अरुण कुमार द्वारा एजूकेशनल प्रेस, बीकानेर
में मुद्रित

साथी पारस को

जिनके संसर्ग और सम्पर्क ने
मेरे जीवन को एक नई दिशा दी है।

प्राक्कथन

पाश्चात्य और पौरस्त्य मानव-शास्त्र-वेत्ताओं और नृ-वैज्ञानिकों ने मानव-जाति के प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन करके लोक-साहित्य के सम्बन्ध में स्वस्थ धारणाओं को प्रतिपादित किया है। लेकिन आज लोक-साहित्य के सदर्भ—लोक-गीत, लोक-कथा, लोक-वार्त्ता, लोक-तरीके, लोक-परम्परा आदि की बात हिन्दी साहित्य जगत मे इतनी खुलकर की जाने लगी है कि उससे लोक-साहित्य के अर्थ मे अनुचित परिवर्तन आने लगा है। अधिक उत्साहित लेखक इन सज्ञाओं का प्रयोग मनचाहे अर्थों मे करने लगे हैं। लगता है मानव-शास्त्र के ज्ञान के वोझ मे हिन्दी-वाँ लेखकों को अपच हो गया है।

लोक-साहित्य के अध्ययन को लेकर इधर अनेकों पुस्तकें हिन्दी साहित्य क्षितिज मे प्रवेश कर गयी हैं। उन पुस्तकों ने एक ऐसी धारणा तैयार कर दी है कि लोक-साहित्य और धर्म का अटूट सम्बन्ध है। इससे लाभ कम और हानि अधिक हुई है।

इस पुस्तक मे लोक-साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमे इस मान्यता को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि लोक-साहित्य का निर्माण लौकिकता की पृष्ठ-भुमि मे होता है। सस्कृति की अनेक धाराओं में एक धारा ऐसी भी होती है जो अवयवी (organic) रूप से मानव प्रकृति (human nature) से जुडी रहती है। सस्कृति के इस स्वरूप के चारों ओर एक पार्थिव आवास और सामूहिकता चन्द्रमा की तरह चक्कर

लगाती रहती है । संस्कृति की केवल इस धारा से और केवल इस धारा से सम्बन्धित साहित्य को ही लोक-साहित्य कहा जा सकता है, अन्य को नहीं ।

आशा है कि हिन्दी साहित्य-जगत् में आई लोक-साहित्य सम्बन्धी ऊल-जलूल और हास्यास्पद धारणा को सही अर्थों मे समझने मे यह पुस्तक सहयोग देगी । यदि ऐसा हो सका तो मैं अपने को सफल मानूं गा ।

पुस्तक 'लोक-साहित्य : एक निरूपण' के दो अध्याय—साहित्य-सन्देश, आगरा, और ज्वाला (साप्ताहिक), पत्रो मे छप चुके हैं ।

इस पुस्तक के लिखने मे मुझे श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय और श्री कृष्ण कुमार वर्मा 'राज' का जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं उनका आभारी हू । श्री वार्ष्णेयजी ने पाण्डुलिपि पढ़कर जो क्रियात्मक सुझाव दिए उससे इस पुस्तक को लिखने मे काफी मदद मिली है । और यह श्री कृष्ण कुमार 'राज' के पुस्तक के कलेवर को तत्परता से टाइप करने के कारण ही है कि मेरे विचार पुस्तक का मूर्त रूप ले सके । मै उनके प्रति अपना विशेष आभार प्रदर्शित करता हू ।

यह सब होने पर भी यह पुस्तक शायद पाण्डुलिपि के रूप मे पडी रह जाती यदि श्री शेखर सक्सेना का सहयोग का हाथ आगे नहीं बढ़ता ।

—रामचन्द्र बोड़ा, एम० ए०

२४-४-६०

जुगल भवन,
पारीक कालेज के सामने,
बनी पार्क, जयपुर

विषय-सूची

★

अध्याय एक

संस्कृति की परिभाषा

★

लोक-साहित्य को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए आवश्यक है कि संस्कृति को समझा जाय। क्योंकि संस्कृति ही वह आधार भूमि है जिस पर लोक-साहित्य का सृजन होता है। संस्कृति और लोक-साहित्य में यह सम्बन्ध हर युग में बना रहता है।

संस्कृति की व्यापक परिभाषा के लिए आवश्यक है कि विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में पनपने वाली संस्कृतियों का अध्ययन किया जाय। पाश्चात्य मानव-शास्त्रवेत्ताओं ने गत ढाई सौ वर्षों का पृथक अन्वेषण कर संसार की अन्यान्य संस्कृतियों एवं स्वरूपों सम्बन्धी अपार सामग्री संचित की है। आधुनिक मनीषियों ने इसी सामग्री के आधार पर मानव निर्मित संस्कृति की उत्पत्ति एवं विकास की मीमांसा करके संस्कृति की परिभाषा देने का प्रयत्न किया है।

इसके पूर्व की विभिन्न मनीषियों द्वारा दी गई संस्कृति की परिभाषाओं का परीक्षण किया जाय यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मानवों की संस्कृति के मूल-तत्व सर्वत्र समान रहते हैं। संस्कृति का दिक्कालात्मक शरीर विशेष परिस्थितियों और देश काल में चाहे कैसा ही क्या न रहा हो, चाहे विभिन्न संस्कृतियों के विकास में भिन्नता

भले ही क्यों न हो और चाहे उनमें देश-विदेश की अपनी निजता क्यों न हो, संस्कृति की सृजन करने वाली मानव-बुद्धि तथा मन के व्यापारों का आवर्तन एक ही ढंग से होता है।

संस्कृति को लेकर हिन्दू-संस्कृति, भारतीय-संस्कृति, मुसलमानी-संस्कृति, ईसाई-संस्कृति, रूसी-संस्कृति या उसे और कोई नाम देकर वर्गीकृत विभेद करना तर्क-संगत विभेद नहीं है।

इतना कह चुकने के बाद अब यदि मानव-जाति के शास्त्र के ज्ञाताओं द्वारा दी गयी विभिन्न परिभाषाओं पर दृष्टिपात और निरूपण करें तो कहना होगा कि संस्कृति की अब तक कई प्रकार की परिभाषाएँ दी गई हैं। यहाँ केवल इन परिभाषाओं के तीन रूपों को लिया जायगा। वे हैं आध्यात्मवादी, विकासवादी और प्रसरणवादी रूप।

संस्कृति की आध्यात्मिक परिभाषा देते हुए अमरीका के श्री फ्रान्ज बोस लिखते हैं "संस्कृति के अनेक पहलू हैं। उसमें मानव और प्रकृति के बीच विविध सम्बन्ध आते हैं। इसमें अन्न का अर्जन तथा रक्षण, आश्रय-स्थानों का निर्माण, विश्व की या प्रकृति की विविध वस्तुओं में परिवर्तन करके उनका हथियार-औजारों एवं बरतनों के रूप में उपयोग, पशुओं, वनस्पतियों, निरिन्द्रिय पदार्थों, ऋतु-चक्र, वातावरण आदि का उचित उपयोग तथा नियमन तथा इनकी सहायता से जीवन को नियंत्रित एवं सुखकर बनाने के विविध मार्गों की खोज आदि का समावेश होता है। इसके मानव और मानव के रागात्मक सम्बन्ध, एक ही समाज के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा भिन्न समूहों के व्यक्तियों के बीच स्थापित होने वाले सम्बन्धों का सांस्कृतिक आविष्कार बड़ा ही महत्वपूर्ण है। परिवारों, गणों, जातियों तथा

विभिन्न सामाजिक दल के बन्धन इसमें सम्मिलित हैं। सामाजिक स्तर तथा प्रभाव से उत्पन्न ऊँच-नीच की परम्परा का इसी में समावेश होता है। अवस्था से उत्पन्न और यौन सम्बन्ध, राजनीतिक एवं धार्मिक-संगठनों, शान्ति एवं संघर्षों के समय उत्पन्न होने वाले सामाजिक दलों के सम्बन्धों का अन्तर्भाव भी इसी में किया जाता है। तीसरे मानव और प्रकृति के बीच वर्तमान सम्बन्धों तथा मनुष्यों के पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों की मानव के मन पर विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। इन प्रतिक्रियाओं का स्वरूप बौद्धिक भी रहता है और भाव प्रधान भी। असल में इन प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति विचारों, भावनाओं तथा कार्यों के रूप में होती है। नीति और धर्म से सम्बन्ध तथा सौन्दर्य-विषयक मूल्यों को इनके अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन सब का सम्मिलित रूप में विचार करने से संस्कृति और जीवन के सम्बन्धों का यथार्थ ज्ञान होता है। * श्री बाओस द्वारा दी गई यह

---

* " Culture itself is many sided It includes the multitude of relations between man and nature, the procuring and preservation of food, the securing of Shelter, the ways in which man utilises and controls, or controlled by his natural envireoment, animals, plants, the inorganic world, the seasons and wind and weather A second large group of cultural plenomena relate to the interrelation between members of a single society and between those belonging to different societies The bondsof family, of tribe, and a variety of social groups

परिभाषा सर्वमान्य नहीं हो सकती। इस समाज के अन्य पहलुओं के साथ आध्यात्मिक पुट दिया गया है जिसके अस्तित्व के बारे में आज कई शंकाएं की जाने लगी हैं।

संस्कृति की इस आध्यात्मवादी परिभाषा के अलावा दो अन्य परिभाषाएं हैं, विकासवादी और प्रसरणवादी (Diffusionist)। विकासवादी विचारधारा के प्रवर्तक हैं श्री ई० बी० टेलर, श्री जेम्स फ्रेजर आदि। प्रसरणवादी विचारधारा के प्रवर्तक हैं इलियट स्मिथ और दूसरे आस्ट्रियन और जर्मन समाज-शास्त्री। विकासवादियों का मानना है कि एक समाज-विशेष में संस्कृति का सृजन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति को लेकर होता है। इन सामाजिक आवश्यकताओं को दो भागों में बांटा जा सकता है—एक—प्राथमिक और दूसरी

---

are included in it, as well as the gradation of rank and influcure, the relation of sexes and of old and young, and in more complex societies, the wide political and religious organization Here belong also the relations of social groups in war and peace A third group consists of the subjective reactions of men to all the manifestatious of life contained in the first two groups These are of an intellectual and esnotional nature and may be expressed in throught and feeling as well as in action They include all rational altitudes and those valuetions which include under the terms of eltices aeslbatics and religion" (General anthropology-boas and others pp 4 5)

परकीय। अपने अस्तित्व को बनाये रखना, मानव-जाति को आगे बढ़ाना, और नए उत्पन्न शिशुओं को बड़ा करना प्राथमिक सामाजिक आवश्यकताएँ हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी सभी सामाजिक आवश्यकताएँ गौण हैं। ये आवश्यकताएँ लगातार बढ़ती जाती हैं। इसके विपरीत प्रसरणवादियों का कहना है कि विशेष प्रकार के समाज ही संस्कृति को विकसित करने की योग्यता रखते हैं। दूसरे समाज तो केवल उनकी नकल करके उस संस्कृति की प्रतिलिपि तैयार करते हैं। इलियट स्मिथ इस सम्बन्ध में मिश्र की सभ्यता का उदाहरण देते हैं। उनका कहना है कि आरम्भ में कृषि, उद्योग, स्थापत्य-कला, मूर्तिकला, राजनीति, धार्मिक-संस्था, भाषा, नाविक-विज्ञान, आदि की उत्पत्ति नहीं हुई थी। सबसे पहले इनका सृजन मिश्र में हुआ था और बाद में वे संसार के अन्य भागों में फैले। जर्मन-समाज-शास्त्रियों का इस सम्बन्ध में कहना है कि संसार में आठ प्रकार की संस्कृति का प्रजनन हुआ है। आज ये संस्कृति का जो रूप हम देख रहे हैं वह इन विभिन्न संस्कृतियों के प्रसरण आदान-प्रदान और संघर्ष का ही फल है।

दोनों समाज-शास्त्री अपनी सीमाओं के बावजूद संस्कृति के सही पहलू को नहीं पकड़ पा रहे हैं। यह सही है हर समाज संस्कृति को विकसित करते हैं। लेकिन कुछ उसे अधिक विकसित कर लेते हैं। और अन्य निम्न स्तर पर रुक जाते हैं। इस तरह वे समाज जो कम विकसित होते हैं अन्य अधिक विकसित समाज की संस्कृति का अनुसरण करते हैं। लेकिन इन तथ्यों को अलग-अलग रूप देकर अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर उन्हें स्वतन्त्र रूप दे देना अनुचित है।

समाज में संस्कृति का सृजन कई साधारण कारणों को लेकर

होता है। यदि वे साधारण कारण सब प्रकार के समाजो में उत्पन्न हो सकते हैं तो सभी समाजों मे यह योग्यता होती है कि वे संस्कृति को विकसित कर लें। संस्कृति का अवरुद्ध होना कतिपय सामाजिक कारणों को लेकर होता है। इस सम्बन्ध मे ब्रोनिस्लाव मालिनोवस्की लिखते हैं, 'प्रसरणवादी एक तरह से ससार पर फैली हुई सभ्यता का अध्ययन केवल इस दृष्टि से करते हैं कि कहा-कहा कैसी और किस प्रकार की संस्कृति उत्पन्न हुई है और कैसे एक संस्कृति ने एक समाज से दूसरे समाज की सीमाओं मे भ्रमण और अतिक्रमण किया है।' *

विकासवादियो और प्रसरणवादियो की संस्कृति की परिभाषाओ को ध्यान मे रखते हुए कहना होगा कि संस्कृति के विकास के आधारभूत तत्व सामाजिक आवश्यकताएँ और सामाजिक आवश्यकताओ के लिए व्यक्ति मे तत्परता है। जिस समाज मे व्यक्ति ज्यादा जागरूक और तत्पर होते हैं, वह दूसरे की तुलना मे अधिक विकसित होता है। कभी-कभी समाज के ये लोग अपना स्थान छोड़ अन्य स्थानो मे जाकर अपनी छाप भी दूसरे समाज पर छोड़ते हैं। इससे हमे कई समाज मे संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन और अन्तरव्यापन दृष्टिगोचर होता है।

इस सम्बन्ध मे जर्मन दार्शनिक ओसावाल्ड स्पेंगलर के सिद्धान्त

* The method of the school consists in a careful mapping out of cultural simitarities over large portions of the globe and in speculative reconstructions as to how similar units of cultural have mandered from one place to another' (Bronistan Malinowski on culture, Encyclopaedia of social sciences, Vol. IV R. 624)

का उद्धरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। वह अपनी पुस्तक 'The decline of the west' में लिखते हैं—"संस्कृति एक तरह का अवयव है और संसार का इतिहास उसकी चरित्र-गाथा है। इस तरह चीन का और शास्त्रीय-संस्कृति का इतिहास व्यक्ति-विशेष के विकास का इतिहास है, या जानवर का, या पेड़, या फूल का। संस्कृति के कई गंतव्यों में जो एक के बाद एक आते रहते हैं, एक दूसरे के साथ विकसित होते हैं, एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करते हैं, इन सब बातों में ही मानव-इतिहास का सार भरा पड़ा है। यदि हम उन शक्तियों को स्वतन्त्र होने दें जो कबीलों के इतिहास के नीचे दबी पड़ी होती हैं तो हम देखेंगे कि उनके विकास में हम सही संस्कृति का अन्य संस्कृति से भेद कर सकेंगे।

"मैं संस्कृति का भेद उसकी आन्तरिक-सम्भावनाओं को लेकर करता हूं। उन आन्तरिक-सम्भावनाओं के आधार पर जो इतिहास के दौरान में साकार वास्तविकता का रूप ले लेती है। वह आत्मा का जीवित शरीर का सा सम्बन्ध है जिसे हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं। संस्कृति का यह इतिहास उसी सम्भाविकता का वास्तविकरण है और अन्त तक उसकी पूर्ति इसी प्रकार होती रहती है। इस तरह 'एपोलयी-आत्मा' ऐसी आत्मा है जिसको समझा जा सकता है, जिसका कोई साझीदार भी हो सकता है, और उसका सम्बन्ध उस वास्तविकता से लगाया जा सकता है जिसे चाहे शास्त्रीय कहा जाय या प्राचीन कहा जाय। इसके प्रत्यक्ष और समझ में आने योग्य अविशेषों का स्थापत्य-शास्त्री, भाषा-शास्त्री, सौन्दर्य-शास्त्री और इतिहासकारों द्वारा केवल परीक्षण किया जाता है।

"एक बडी संस्कृति का जन्म जब हो पाता है जब कोई बडी आत्मा मानवता के बचपन से सुसुप्त-आध्यात्मिकता जाग उठती है और आकारहीनता से अपने आकार को बना लेती है। उसका स्फुटन एक पारिभाषित होने वाले स्थिर-चित्र के रूप में होता है, उस स्थिर-चित्र के रूप में जिससे जनता, भाषाओं, कलाओं, दृढ़ताओं, अवस्थाओं, विज्ञानों का सिंचन होता है और जो फिर सुसुप्त-आत्मा को प्राप्त हो जाती है। लेकिन उसका (संस्कृति) का सही अस्तित्व बना रहता है—उन युगों में जब वह परिपक्व होती है ऐसी अराजकता के खिलाफ जो साधारणतया अपना जाल बिछाने को तत्पर रहती है। केवल कलाकार का ही उस संस्कृति को प्राप्त करने का श्रम नहीं करना पड़ता। हर संस्कृति का बाह्य उपकरणों से वैसा ही सम्बन्ध रहता है जिसके प्रतिरोध में वह अपने को ठोस रूप देती है। एक बार उद्देश्य की प्राप्ति के बाद विचार अपनी समूची सम्भाविकता के साथ साकार वास्तविकता का रूप धारण कर ठोस रूप धारण कर लेता है, वह आकारित हो जाती है, उसकी आत्मा का समाजीकरण हो जाता है, उसकी शक्तियाँ विशृङ्खलित हो जाती हैं और वह सभ्यता का रूप ले लेती है। इसी को हम मिश्र की सभ्यता बेनजिनतिऊय की सभ्यता, मडाग्नि की सभ्यता कहते हैं। ये पुराने झुलसे हुए जंगल की तरह अपनी अनेकानेक शाखा प्रशाखाओं को कई शताब्दियों तक आकाश की ओर पल्लवित करती रहती हैं, जैसा कि हम भारत, चीन और इस्लाम के क्षेत्र में देखते हैं।

"हर संस्कृति व्यक्ति-अवस्था से गुजरती है। हर संस्कृति का शैशव-काल होता है युवा-अवस्था होती है और वृद्धा-अवस्था होती

है। हर संस्कृति, संस्कृति की हर व्यापकता और क्षय-ग्रस्तता, उसकी हर आन्तरिक अवस्थाएं और युग एक विशेष अवधि लिए रहते हैं, हमेशा उसी प्रतीक को आधार बना कर।" *

---

*"Cultures are organism and world history is their collective biography Morphologically, the history of Chinese, or of the classical culture is the exact equivalent of the petty history of the individual man, or of the animal or the tree or the flower In the destinities of several cultures that follow upon one another, grow up together, touch, overshadow and suppress one another is compressed the whole content of human history And if we set free their shapes, till now hildden all too deep under the surface of a tribe history of human progress, and let them march past us in the spirit, it cannot but be that we shall succeed in distinguishing amidst all that is special or unessential, the primitive culture-form, the culture that underlies as ideal all the individual cultures"

"I distinguist the idea of a (culture) which is the sum-total of its inner possibilities, from its sensible phenomenon or appearance upon the canvass of history as a fulfilled actuality It is the relation of the soul to the living body, to its expression in the light world perceptible to our eyes This history of culture is the progressive

स्पेंगलर की सस्कृति के वारे में यह धारणा रहस्यवादी है। यह धारणा सस्कृति की अनुरजित व्याख्या है।

स्पेंगलर के अलावा अर्द्ध-सभ्य समाज का अध्ययन कई मानव-शास्त्रवेताओं ने किया है। और वाद में सस्कृति की परिभाषा देने का प्रयास किया है।

श्री लक्ष्मण-शास्त्री जोशी तर्कतीर्थ ने अपनी पुस्तक "वैदिक संस्कृति का विकास' मे संस्कृति की सर्वांगीण परिभाषा देने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं, 'सस्कृति वास्तव में वह जीवन-पद्धति है जिसकी स्थापना मानव व्यक्ति तथा समूह के रूप में निर्माण करता है, उन आविष्कारो का सग्रह है जिनका अन्वेपण मानव ने अपने जीवन को सफल वनाने के लिए किया है। उक्त अन्वेषण मे मानव तव सफल होता है जव वह अपनी आत्मा तथा वाह्य विश्व दोनो का सस्कार करे। मानव और उसके चारो ओर फैला हुआ संसार दोनों का समानान्तर ही वास्तव मे प्रकृति है। कभी प्रकृति मे परिवर्तन उपस्थित करके तो कभी इसका सम्कार करके मानव अपने जीवन-पथ पर

---

actualizing of its possible, and the fulfilment is equivalent to the end In this way, the Apolloyen soul, which some of us can perhaps understand and share in, is related to its unfolding in the realm of actuality to the classical or the Antique as we call it, of which the tangible and understandable relies are investigated by the archeologist the philologist, the aesthelies and the historian . . .

अग्रसर होता है। सच बात तो यह है कि संस्कृति मानव-द्वारा प्रकृति पर विजय की क्रम-बद्ध कहानी है।" (पृष्ठ २)

अंतिम विश्लेषण मे यह कहा जा सकता है कि संस्कृति व्यक्ति की रागात्मक व भावात्मक प्रवृत्तियों, मानसिक प्रयासों और भौतिक व्यवहारों का दूसरा नाम है। समाज मे जो भी संस्थाएं हमें प्रतीत होती हैं वह इन्हीं भावात्मक-प्रवृत्तियों व मानसिक-प्रयासों की बाह्य-अभिव्यक्ति का घनीभूत रूप है। मनुष्य के अनुभव के आधार पर उसके ज्ञान का दायरा बढ़ता जाता है, जिसके आधार उसके संस्कार विकसित और दृढ़ से दृढ़तर होते जाते हैं। इन्हीं मानवीय कार्य-कलापों और व्यवहारों को लेकर सामाजिक जीवन-पद्धति निर्धारित होती है। इस जीवन-पद्धति के अनुकूल ही सांस्कृतिक-ढाचों का सृजन होता है। लोक-साहित्य की गत्यात्मकता भी इसी आधार पर निर्धारित होती है। लेकिन कालान्तर में इस जीवन-पद्धति मे अन्तर आने लगता है।

"A culture is born in the moment when a great soul awakens out of the proto-spirituatily of over childish humanity and detaches itself, a form from the formless, a bounded and mortal thing from the boundless and enduridg It blooms on the soil of an exactly definable landscape, to which plantwise soul has actualised the full some of its possibilities in the shape of people, language, dogmas, arts, states, scicuces, and reverts into proto soul But its living existence, that sequence of great epochs which define and display the

"संस्कृति में परिवर्तन दो तरह से होता है। एक में समाज की अन्त.शक्तियों का स्वाभाविक रूप से विकास होता है और दूसरे मे उन परिवर्तनों का अन्तर्भाव होता है जो विभिन्न सस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं से निर्मित है। इन दोनों परिवर्तनो के आधार पर होने वाले विकास के मूल में एक ही तत्व है। मानव और परिस्थिति के बीच संघर्ष तिरन्तर चलता रहता है। मानव अपनी जीवन-पद्धति में तब तक परिवर्तन करना पसन्द नहीं करता जब तक उसकी परिस्थिति मे कोई खास हेर-फेर न-हो। लेकिन परिस्थिति मे अगर कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो परिवर्तन परिस्थितियों पर विजय पाने मे यत्नशील होकर वह अपनी जीवन-पद्धति को वदल देता है। नवीन-जीवन-पद्धति की सहायता से प्राप्त परिस्थिति

---

stages of fulfilment, is an inner possionate struggle to maintanance the idea, against the powers of chaos without and the unconseious multering deep down within It is no only the artist struggle against the resistence of the waterial and the stifling of the idea within him Every culture stands in a deeply symbolical almost a mystical, relation to be extended, the space in which and through which it strives ot actualise itself The aim once attained the idea, the entire content of inner possibilities, fulfilled and made externally actual the culture suddenly hardens, it mortifies, its blood congeais, its force breaks down and it becomes civilization, the thing which we

पर विजय पाने मे जब वह सफल होता है तब उपर्युक्त नवीन जीवन-पद्धति संस्कृति के विकास मे अपना स्थान ग्रहण करती है।"
(वैदिक-संस्कृति का विकास—लक्ष्मण शास्त्री जोशी : पृष्ठ ६)

मानव-समाज मे जीवन-पद्धति के परिवर्तन आने से पहले मनुष्य के विचारों मे परिवर्तन आना आवश्यक है। इस तरह जब नए विचारों का सृजन हो जाता है तो समझ लेना चाहिए कि नई संस्कृति के बीज पड़ने लगे हैं और जब नई संस्कृति के विचार प्रभावित हो जाते हैं तो उसकी झलक सांस्कृतिक-ढाचों और लोक-साहित्य पर पड़ती है। प्रयास किया जाने लगता है नए सांस्कृतिक—ढाचो को रचा

---

feel and understand in the words of Egypticism, Byzantinism, Mandarinism As such they may, like a worn out giant of the primeval forest, thrust their decaying brances towards the sky for hundreds or thousands of years, as we see in china in India in the Islamic world

"Every culture passes through the age—phases of the individual man Each has its childhood, youth, manhood and old age Every culture every adolescence and maturing and decay of a culture, everyone of its intrinsically necessary stages and periods, has a definite duration, always the same, always securing with the emphasis of a symbol" [The Decline of the West-by Oswald Spengler-pp 104-110]

जाय। नए लोक-साहित्य को तैयार किया जाय। जीवन-पद्धति मे परिवर्तन आने में पहले लोक-साहित्य के अनेक रूपों—विशेष कर लोक-गीतों में परिवर्तन आने लगता है। बाद में शनैः शनैः सांस्कृतिक-ढाचों के प्रति जन साधारण मे आस्था कम हो जाती है और अन्त में जीवन-पद्धति में परिवर्तन हो जाता है।



★

अध्याय दो

★

संस्कृति, साहित्य और लोक-साहित्य

पहले अध्याय में संस्कृति की परिभाषा देकर यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि संस्कृति जीवन-पद्धति का दूसरा नाम है। इस जीवन-पद्धति का मनुष्य ने अपनी उत्पति के साथ ही सृजन किया है लेकिन उसकी उत्पत्ति के साथ कई चीजें उसे पशु-जगत से धरोहर के रूप मिली हैं, जिन्होंने मनुष्य को अपनी जीवन-पद्धति को स्थापित करने में योग दिया है। सस्कृति मनुष्य का ही अटूट अंग नहीं रही है, संस्कृति का सम्बन्ध पशु-जगत से भी रहा है। पशु-प्रवृतियों को मनुष्य जैसी जीवन-पद्धति का रूप तो नही माना जा सकता लेकिन मनुष्य की जीवन-पद्धति का 'प्राग्' अवश्य माना जा सकता है। इस अध्याय में केवल इस 'प्राग्' के बाद जो संस्कृति का रूप रहा उसे ही लिया जायगा।

इस तरह मानव-जाति के इस प्रागोत्तर इतिहास पर दृष्टिपात करें तो कहना होगा कि उसे दो भागों में बांटा जा सकता है। एक तो लिखित इतिहास के रूप में और दूसरे लिखित इतिहास के पहले के काल के रूप में जिसे प्राग-ऐतिहासिक-काल कहा जा सकता है।

इन दोनों ऐतिहासिक-काल में, साहित्य का सृजन हुआ है। मनुष्य ने साहित्य का सृजन तब से आरम्भ कर दिया था जब से उसने धारणात्मक विचारो मे सोचना आरम्भ कर दिया था। मनुष्य के समूचे धारणात्मक-अर्थ का दूसरा नाम ही साहित्य है। यह साहित्य की बहुत व्यापक परिभाषा है। आरम्भ मे साहित्य का यही रूप था। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार का साहित्य आ जाता है। चाहे वह साहित्य (जिसे आज कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक आदि की सज्ञा दी जाती है) हो या लोक-साहित्य।

इसके पहले कि मानव-समाज के इस प्रकार के साहित्य-सृजन और लोक-साहित्य सृजनके बारे में कुछ कहे यह आवयश्क लगता है कि सस्कृति की कतिपय धाराओ पर प्रकाश डाला जाय।

यह सही है कि सस्कृति जीवन-पद्धति का दूसरा नाम है। लेकिन मनुष्य की जीवन पद्धति कई धाराओं से मिल कर बनती है। उदाहरण के लिए उत्पादन के साधन, रहन सहन का तरीका आदि। सस्कृति मे मनुष्य के दैन-दिन के कार्यों और व्यवहारो के अलावा मनुष्य के कार्यों और व्यवहारों का वह रूप भी मिलता है जो एक विशिष्ठ सामूहिकता और समारोहात्मकता के साथ अवगुफित और पिरोया रहता है। मनुष्य के कार्यों और व्यवहारो का इस तरह कालिक रूप मे कुछ सस्कारो को लेकर घनीभूत हो जाना अपने मे जीवन-पद्धति की या संस्कृति की एक ऐसी धारा है जिसे अवयवी-धारा (organic-movement) कहा जा सकता है। मनुष्य किसी काम को बिना किसी सामाजिक उपकरण के करता है तो वह उसके साधारण कार्यों और व्यवहारो के

अन्तर्गत होता है। लेकिन वही काम जब वह सामाजिक उपकरणों की चार दिवारी में करता है तो वह मनुष्य के साधारण कार्य और व्यवहार न रह कर उसके विशेष व्यवहार हो जाते हैं। इसी विशेष व्यवहार को अवयवी इसलिए कहा गया है कि इस व्यवहार में एक विशेष अवयवी-भाव घर कर गया होता है, जिसे मनुष्य को चाहे और बिना चाहे करना पड़ता है। मनुष्य का यह व्यवहार सामाजिक-उपकरणों के कारण अपने में स्वतन्त्र-चीज बन जाता है। वह व्यष्टि का अंग न रहकर समष्टि का अंग बन जाता है अपने में समष्टि-गत हो जाता है।

मानव-समाज में इस तरह हम देखते हैं कि संस्कृति की एक धारा सामाजिक उपकरणों को लेकर कई परतों के रूप बनी चली जाती है। संस्कृति की इसी लीक को, इस परम्परा को और इस कड़ी को सांस्कृतिक-परत या सांस्कृतिक-ढांचा कहा जा सकता है।

ऊपर हमने साहित्य के दो रूपों की बात उठाई है—साहित्य और लोक-साहित्य की। साहित्य हर हालत में इस सांस्कृतिक परत के गुरुत्वाकर्षण से दूर रहता है। वह इसकी संकीर्णता के फेर में नहीं पड़ता। लेकिन एक साहित्य ऐसा साहित्य भी होता है जो इस सांस्कृतिक-परत के गुरुत्वाकर्षण में आ जाता है। इस सांस्कृतिक-परत के बिना उस साहित्य का होना सम्भव नहीं होता। इस साहित्य को लोक-साहित्य कहा जाता है।

मनुष्य की जीवन-पद्धति के विकास में यह सांस्कृतिक-परत बदलती रहती है। इस परिवर्तन के अनेक रूप रहते हैं। इस परत

के परिवर्तन की एक झलक लोक-साहित्य के उस परत के गुरुत्वाकर्षण से हट जाने के रूप में प्रकट होती है। ऐसा होने पर लोक-साहित्य साहित्य साधारण की श्रेणी मे आ जाता है। यह क्रम मानव-जाति के विगत इतिहास में चलता रहा है। संस्कृति के विकास में जो कभी लोक-साहित्य था वह लोक-साहित्य न रहकर साहित्य बन जाता है। इस सम्बन्ध में अध्याय 'लोक-साहित्य—एक निरूपण' के अन्तर्गत इस गत्यात्मकता की चर्चा की गयी है। यहां हम केवल यह कह देना चाहते हैं कि प्राचीन उपलब्ध साहित्य में सांस्कृतिक-परत के गुरुत्वाकर्षण से हटने पर भी लोक-साहित्य साहित्य में विद्यमान रहता है अत मानव-शास्त्रवेत्ताओं को इस बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिए कि लोक-साहित्य के अध्ययन में, साहित्य का अध्ययन सम्मिलित न हो जाए। ऐसा होने से, साहित्य क्योंकि उसका सम्बन्ध संस्कृति की सांस्कृतिक-परत से परोक्ष या प्रत्यक्ष किसी भी रूप में नहीं रहता, उसके अध्ययन में वे सारी बातें भर कर जायेंगी जो साधारणतया लोक-साहित्य में नहीं हुआ करती।

साहित्य और लोक-साहित्य की दो भिन्न सामाजिक स्थितियों के कारण उनकी गत्यात्मकता और तार्किकता भिन्न रहती है। लोक-साहित्य में लोक-मानस की गत्यात्मकता सामाजिक-उपकरणों के साथ अभिव्यञ्जनात्मक रूप में अन्तर्निहित रहती है। साहित्य में अभिव्यक्ति की गत्यात्मकता बिना सामाजिक उपकरणों के बनी रहती है। इसे एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है।

जिस मानव-समाज में आत्मा और देवी-देवताओं की कल्पना,

आप्त-धर्म और देव-धर्म-शास्त्र मे भी मिलती है तो आत्मा और देवी-देवताओं की कल्पना प्राकृत-धर्म मे भी। लेकिन आप्त-धर्म और देव धर्म-शास्त्र की आत्मा और देवी-देवताओं की कल्पना मे और प्राकृत धर्म की आत्मा और देवी-देवताओं की कल्पना मे जमीन आसमान का अन्तर है। न तो प्राकृत-धर्म की आत्मा और देवी-देवताओं की कल्पना के आधार पर ही आप्त-धर्म और देव-धर्म-शास्त्र की आत्मा और देवी-देवताओं की कल्पना की गयी है और न उनके आधार पर बाद मे उसे व्यापक और विकसित रूप दिया गया है। दोनो धर्मों मे वे दो भिन्न कल्पनाएं हैं, दोनो के बीच केवल शब्द ही समान रह गए हैं। इसी प्रकार लोक-साहित्य मे कथा, गीत, वार्त्ता आदि होते हैं तो साहित्य मे कहानी, कविता, नाटक आदि होते हैं। इन दोनो की गत्यात्मकता और अर्थों मे भिन्नता होती है। उनमे केवल नाम की सामान्यता है। जिस प्रकार प्राकृत-धर्म मे ईश्वर की कल्पना का अभाव पाया जाता है और आप्त-धर्म और देव-धर्म-शास्त्र मे ईश्वर की कल्पना पूर्ण व्यापकता के साथ व्यवहृत हुई है उसी प्रकार लोक-साहित्य मे कहानी, नाटक और उपन्यास की धारणा नहीं पाई जाती और साहित्य मे कहानी नाटक और उपन्यास की धारणा पूरी व्यापकता के साथ पाई जाती है।

अत: प्राचीन लोक-साहित्य के अध्ययन से यह लगता आवश्यक है कि लोक-साहित्य और साहित्य के भेद को स्पष्ट रखा जाय। लोक-साहित्य और साहित्य के भेद को मिलने न दिया।



अध्याय . तीन

लोक-साहित्य एक निरूपण

भारतवर्ष की विविध भाषाओं में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं और मानव-शास्त्र सम्बन्धी प्रकाशित अन्य साहित्य पर यदि एक दृष्टिपात और उसका निरूपण करें तो पता चलेगा कि भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद लोक-साहित्य के विभिन्न रूपों—लोक-गीत-लोक-वार्ता, लोक-कथा, लोक तरीके, लोक-व्यवहार और लोक-परम्परा आदि को समझने का जो प्रयास किया जा रहा है वह पातालिकता लिए है। लोक-साहित्य को समझने का वह प्रयास मानव-शास्त्र-वेत्ताओं द्वारा योरूप में अठारहवीं शताब्दी में किया जाने लगा है। इन मानव-शास्त्र वेत्ताओं और नृ-वैज्ञानिकों ने लोक-साहित्य सम्बन्धी अपनी खोज से कई सामाजिक पहलुओं और समस्याओं का हल निकाला है। इससे लोक-साहित्य की सही सामाजिक भाव-भूमि समझ में आने लगी है।

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद लोकसाहित्य को समझने के जो प्रयास हो रहे हैं वे या तो राष्ट्रवाद और प्रचलित रूढ़ परम्पराओं में अनुरंजित व पुनरावर्तित हैं या उनमें ऐसा संशोधन घर कर गया है जो तर्क-हीन और परस्पर विरोधाभास लिए है। जो खोज की गहराई

और बारीकी नृ-शास्त्र और मानव-शास्त्र मे विस्थापित खोजो से लोक-साहित्य को समझने में आ जानी चाहिए थी वह नहीं आ पाई है। भारतवर्ष मे जहा-जहा लोक साहित्य को समझने का प्रयास किया गया है वहा-वहा लोक-साहित्य, लोक-सार और लोक-वृति झुठलाए हुए रूप मे प्रत्यापित हुई है।

लोक-साहित्य और अन्य साहित्य उपलब्धियो के अध्ययन के आधार पर नृ-वैज्ञानिको व मानव-शास्त्र-वेत्ताओ ने लोक-साहित्य के विविध रूपो के आधार पर कुछ निश्चित मान-दण्डो को पारिभाषित करने का प्रयास किया है। इन्ही मान-दण्डो के आधार पर इन मनीषियो ने साहित्य शब्द के पूर्व 'लोक' विशेषण को जोड़ा है।

साहित्य और लोक-साहित्य की भिन्नता और उसके व्यवच्छेदक-धर्म (Differentia) को लेकर ही इनमे परस्पर भेद किया गया है। लेकिन भारतवर्ष मे जो आधुनिक प्रयास लोक-साहित्य के सम्बन्ध मे हो रहे हैं, उसमे लोक-साहित्य सम्बन्धी अनुसंधान-कर्ता उस व्यवच्छेदक-धर्म को नही समझ पाए हैं। आज आवश्यकता है लोक-साहित्य और साहित्य के भेद को पारिभाषित करने की ताकि लोक-साहित्य के नाम पर जिस साहित्य विशेष का अध्ययन होने लगा है उस प्रवृति को रोका जाय। आज स्थिति यह है कि जो भी आदिम-साहित्य, मौखिक-साहित्य या अन्य प्रकार का साहित्य उपलब्ध हो रहा है वह लोक-साहित्य माना जाने लगा है, जो भी इस प्रकार के गीत-मौखिक या अन्य उपलब्ध हैं वे उनके लिए लोक-गीत हो गए हैं और जो भी मौखिक आदिम-कथाए जहा कहीं भी उन्हें उपलब्ध हुई है वे

उनके लिए लोक-कथाए हो गयी हैं। यह बात लोक-साहित्य के अन्य रूपों पर भी लागू होती है।

किसी भी साहित्य को मौखिकता के कारण या फिर केवल आदिमता के कारण, लोक-साहित्य नहीं कहा जा सकता। एक समय था जब सस्कृत की व्याकरण मौखिक रूप से रट-रट कर पीढी दर पीढी जिन्दा रक्खी गई थी। केवल इस मौखिकता के नाते व्याकरण को लोक (Folk) की सज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। इसे लोक-व्याकरण नहीं कहा जा सकता। वैसा करना तर्क-सगत नही होगा।

'मौखिक साहित्य ही लोक-साहित्य है'। यह परिभाषा बहुत व्यापक परिभाषा है। इसमे अति-व्यापित दोष है। लोक-साहित्य का आवर्तन मौखिक रहता है। लेकिन मौखिक साहित्य ही लोक-साहित्य है, कहने से वह सब पहलू छूट जाएंगे जो लोक-साहित्य के लिए महत्वपूर्ण हैं। मौखिकता के अन्तर्गत लोक-साहित्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार के साहित्य भी जिन्दा रहे है। 'आदिम-साहित्य लोक-साहित्य है' यह स्थापना भी सच नही है। क्या आदिम समाज मे लोक-साहित्य के साथ साहित्य साधारण का भी सृजन हुआ है।

लोक-साहित्य के बारे मे एक और अनुचित धारणा बन गयी है कि उसका कोई रचियता नही होता, जन-समुदाय ही उसका रचियता होता है। यही बात यदि लोक-सार के लिए कही जाती तो अक्षरश सत्य होती। लोक-सार व्यक्ति की थाती है, और व्यक्ति की उपज है। लेकिन किसी व्यक्ति विशेष को इसके लिए इगित नहीं किया जा सकता

जब जन-साधारण द्वारा लोक-सार सृजित होने लगता है और लोक-सार के आधार पर सांस्कृतिक-ढाचों का निर्माण होने लगता है तो उसमें लोक-साहित्य का सृजन व्यक्ति द्वारा होने लगता है। हो सकता है कि बाद में समाज उस व्यक्ति को याद नहीं रखे। समाज को लोक-साहित्य और उसके अनेक रूपों के कर्ता का ज्ञान न रहे। केवल इस आधार पर यह पारिभाषित कर देना कि लोक-साहित्य का कोई रचियता नहीं होता एक अनुचित साधारणीकरणता को पारिभाषित कर देना है।

कतिपय अन्य लेखकों की धारणा है कि लोक-साहित्य वह साहित्य है जिसमें व्यक्तियों के द्वैत-सम्पर्क को या सामुहिक भावनाओं को प्रश्रय दिया जाता है। इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हर प्रकार के साहित्य सृजन के लिए द्वैत-सम्पर्क की और एक प्रकार की सामाजिकता आवश्यक है। लेकिन केवल द्वैत-सम्पर्क या सामाजिकता को लेकर लोक-साहित्य की बात करना समझ मे नहीं आता। साहित्य की बात छोड़िए, स्वय व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष की उत्पति भी,द्वैत-सम्पर्क के बिना सम्भव नहीं है।

इसके अलावा कुछ अन्य लेखक भी हैं जो लोक-प्रियता के आधार पर लोक-साहित्य को पारिभाषित करना चाहते हैं। उनका कहना है जो गीत जन-जन के मुख पर चढ गए हैं, लोक-प्रिय हो गए हैं, वह साहित्य लोक-साहित्य है। इस आधार पर गीतों का या साहित्य का सकलन किया जाय तो सिनेमा के गीत भी उस श्रेणी में आ जावेंगे। लोक-साहित्य की यह परिभाषा अजीब व हास्यास्पद है।

कहना नहीं होगा कि लोक-प्रियता की मनोवृत्ति का अपना दायरा होता है जिसका छितराव मानव समाज के कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार एक पक्षी के विचरने का दायरा दस बारह मील तक ही बना रहता है उसी प्रकार लोक-प्रियता का स्थायीत्व और सापेक्षत्व भी क्षेत्रीयता लिए रहता है। उसका त्रिकालात्मक शरीर सामाजिक पृष्ठ भूमि में निर्धारित रहता है।

कुछ अन्य लेखक भी हैं जो इस बारे में बिना कुछ सोचे समझे जो भी आदिम या प्राचीन साहित्य उनके सामने आ जाता है, उसे लोक-साहित्य मान बैठे हैं। हर आदिम साहित्य को लोक-साहित्य की सज्ञा देना तर्क-सगत नहीं। मानव-संस्कृति के आदिम प्रस्फुटन के समय यह सही है कि सस्कृति इतनी बोझलता नहीं ले पाई थी कि वहा सास्कृतिक-ढाचा का गठन सुदृढ और स्वतन्त्र रूप ले सकते।

प्राचीन साहित्य को लोक-साहित्य मान लेने से लोक-साहित्य सम्बन्धी धारणा तो धपले में पडती ही है साथ ही इस से बड़ा अहित हुआ है और हो रहा है। क्योंकि इस तरह लोक-साहित्य के नाम पर रूढ प्राचीन संस्कृति का पुनरावर्त्तन होने लगता है। उस प्राचीन सस्कृति का, जिसको जीवित रखना एक तरह से अमानवीय परम्पराओं को जीवित रखना है, व्यक्ति को कुंठित बनाए रखना है।

बात यहीं तक सीमित नहीं है। भारतवर्ष के कुछ प्रदेशों मे मन चले साहित्यकार इस प्रकार के रूढ-साहित्य के आधार पर उन्हें प्रान्तीय बोलियों की एक प्रान्तीय भाषा का रूप देकर, उसे उस तथाकथित भाषा का साहित्य बताने लगे हैं। डिंगल-साहित्य की स्थिति इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है।

अत: लोक-साहित्य को पारिभाषित करने के लिए आवश्यक है कि लोक-साहित्य और साहित्य के भेद को परस्पर दर्शाया जाय। तथा लोक-साहित्य को उसकी सही स्थिति में समझा जाय।

इस माने मे प्राचीन समाज और आधुनिक समाज में प्रायः देखा गया है कि वहा दो प्रकार का साहित्य मिलता है—साहित्य और लोक-साहित्य। सामाजिक परिवर्तन मे यह भी देखा और पाया गया है कि जो कभी लोक-साहित्य था वह कालान्तर में केवल साहित्य रह गया है और जो कभी लोक-साहित्य था वह कालान्तर मे सामाजिक परिस्थिति विशेष के कारण लोक-साहित्य बन गया है। लेकिन सब प्रकार के साहित्य के साथ यह बात नहीं होती।

लोक-साहित्य कैसे साहित्य की श्रेणी मे आ जाता है और उसके विपरीत साहित्य कैसे लोक-साहित्य हो जाता है इस गत्यात्मकता को समझे बिना यदि लोक-साहित्य को समझने का प्रयास किया तो लगता है कि आज का लेखक लोक वाङ्मय की परिभाषा में हेत्वाभास ला देगा।

एक समय था जब वेद और ऋचाओ को सांस्कृतिक-उपकरणों हवन, होम, यज्ञ आदि के माध्यम से जिन्दा रखा जाता था। वह साहित्य उस समय उस संस्कृति का प्रतिबिंब था और हवन, होम और यज्ञ आदि सांस्कृतिक-ढाचो के रूप में उस संस्कृति के अनिवार्य अग। लेकिन बाद मे उस संस्कृति मे परिवर्तन आने लगा और सांस्कृतिक-ढाचें बदलने लगे और साथ ही वेद और ऋचाओ को सांस्कृतिक-ढाचो के प्रश्रय से जीवित रखने की परिपाटी उठ गई। दूसरे शब्दो में उन सांस्कृतिक-ढाचो मे परिवर्तन आया, उनकी

पर्व-वृत्ति के प्रति जन-मानस की आस्था कम हो गयी और उनके लोक-सार का रूप बदल गया। इस तरह वेद और ऋचाएं जो कभी लोक-साहित्य थे, बाद में लोक-साहित्य न रह कर साहित्य की श्रेणी मे आ गए। इस तरह आज जो आदिम साहित्य मिल रहा है वह कभी सास्कृतिक-ढाचो से अवयवी रूप से जुडा हुआ था। उसका अध्ययन और सही सामाजिक विश्लेषण किया जाना चाहिए ताकि आदिम साहित्य और आदिम लोक-साहित्य का भेद किया जा सके। यह भेद किन आधारभूत सिद्धातो के आधार पर किया जाना चाहिए उसे पुस्तक के अन्य अध्याय मे अलग से लिया गया है।

अतएव प्रश्न होता है कि लोक-साहित्य क्या है? यदि मानव-समाज मे उपलब्ध होने वाला मौखिक-साहित्य लोक-साहित्य नही है और यदि मानव समाज मे पाया जाने वाला लोक-प्रिय साहित्य लोक-साहित्य नही है, तो लोक-साहित्य क्या है?

इस तरह यदि लोक-साहित्य की परिभाषा देने के प्रयास में लोक-साहित्य के समूचे रूपो – लोक गीत, लोक-वार्ता, लोक-परम्पराए, लोक-तरीके (जो मानवीय सस्कृति के अपने अग है) और लोक-कथा का निरूपण करें तो पता चलेगा कि मानव-समाज मे एक ऐसा साहित्य भी सृजित होता रहा है और रहता है जो हमेशा अपने को कुछ सास्कृतिक-ढाचो (Cultural patterns), सास्कृतिक-प्रसगो व सास्कृतिक-उपकरणो के माध्यम से जीवित रखता है।

इन सास्कृतिक-ढाचो का गठन संस्कृति की बनावट के अनुरूप होता है, जिसके वे अनिवार्य अग होते हैं। इस तरह लोक-साहित्य की गत्यात्मकता और सास्कृतिक ढाचो की गत्यात्मकता परस्पर समकक्ष

होती है। इसी समकक्षता के कारण लोक-साहित्य संस्कृति के सांस्कृतिक-ढांचों में अवयवी (Organic) रूप से जुड़े रहते हैं। इन सांस्कृतिक-ढांचों की गत्यात्मकता सामाजिक विकास के साथ समानान्तर दौड़ती है और इनका प्रादुर्भाव किसी भी प्रकार की आर्थिकता से नहीं लगाया जा सकता। सामाजिक विकास और ये सांस्कृतिक ढांचे एक दूसरे के समानान्तर दौड़ते हुए भी एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। लेकिन किसी भी काल-विशेष में इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। ऐसी प्रायः इनकी गत्यात्मकता रही है। संस्कृति का परिवर्तन, सांस्कृतिक-ढाचा का परिवर्तन और लोक-साहित्य में परिवर्तन आता है, लेकिन काफी समय के बाद। इस तरह इस प्रकार के साहित्य को, उसके विभिन्न रूपों को, जो गीतों, वार्त्ताओं, कथाओं, परम्पराओं, तरीकों आदि रूपों को, जो सांस्कृतिक-ढांचों, सामाजिक प्रसंगों व सामाजिक उपकरणों के माध्यम में जीवित रहता है या रहता रहा है, को ही लोक-साहित्य कहा जा सकता है। अतः लोक-साहित्य आदिम व प्राचीन समाज में भी था तो आधुनिक समाज में भी है और आगे भी रहेंगे।

मनुष्य समाज का प्रारूप है। प्राचीन समाज में उसने जब वह सभ्यता की सारी परम्पराओं और संस्कृतियों को अपने में नहीं सजो पाया था, तब भी उसने एक प्रकार की संस्कृति का सृजन किया था। उस संस्कृति का आधार आत्मावादी (animistic) और अभिप्रेत (anthropomorphic) वाला प्राकृत-धर्म था। इस संस्कृति में मानवीय लोक-सार और पर्व-वृत्ति की अभिव्यक्ति सांस्कृतिक-ढाचा के रूप में और एक प्रकार के साहित्य के सृजन के रूप में हुई है।

यह साहित्य इन सास्कृतिक-ढाचा मे जो उनके ही अनुरूप होता है, अवयवी रूप से जुड़ा होता है। न तो इस प्रकार के साहित्य के बिना उन सास्कृतिक-ढाचो का अस्तित्व कही मिलता है और न सास्कृतिक-ढाचो के बिना वैसा साहित्य मिलता है। इस साहित्य का नृ-वैज्ञानिको और मानव-वैज्ञानिको ने लोक-साहित्य माना है। आदिम समाज का जो भी साहित्य उपलब्ध हुआ है उसका प्रारूप कीट-मनो-वृत्ति (insectolatory) का है। वह अपने मे सकीर्ण और बन्द है। उसमें पर्व-वृत्ति और जड-पूजा की मात्रा अधिक है। जिस समय उसका सृजन किया गया था वह उस समय उचित ही था, लेकिन उसे आज सशोधित रूप देकर विस्थापित नहीं किया जा सकता। आज सस्कृति के प्रस्थापन के लिए आवश्यक है कि सस्कृति मे आधुनिक अह (modern-ego) प्रतिध्वनित हो।

उन सास्कृतिक-ढाचो मे जिनके माध्यम से लोक-साहित्य जिन्दा रहता है, समूची उस समय की परिव्याप्त सस्कृति की पृष्ठभूमि मे कभी या तो किसी घटना विशेष को लेकर अपना सृजन करते हैं या किन्ही मानवीय भाव भगिमाओ से प्रभावित होकर उसे मौलिकता का रूप देकर। इसके पूर्व कि कोई सास्कृतिक ढाचा किसी घटना विशेष को लेकर या अन्य सामाजिक-दार्शनिक मान्यताओ को लेकर कैसे उद्भासित होता है को समझावे यह कहना अप्रासगिक न होगा कि लोक-साहित्य के विभिन्न मनुष्य समाज मे मौलिक कार्य-कलापो द्वारा जिसमे उत्पादन के साधन भी शामिल हैं, जीवित रहे हैं और रहते हैं। प्राचीन समाज म इस मौलिकता का अपना एक उद्भिद-भाव (totem) होता है। इसी उद्भिद-भाव के कारण लोक-साहित्य और सास्कृतिक-

ढाचा का आपसी सम्पर्क बैठा रहता है । एक दूसरे से अवयवी रूप से गुथे रहते हैं ।

बहुधा देखा गया है कि प्राचीन और आधुनिक-समाज मे मागलिकता और भव्यता व्यक्तिगत और सामाजिक अवसरों को बनने बिगडने मे योग देती है वह सामाजिक ढाचा के चारो ओर मडराती रहती है । इन मागलिक और अमागलिक सामाजिक अवसरों पर हमें लोक-गीत जुड़े मिलते हैं । कबायली जातियो में शादी-विवाह के अवसर पर और प्रसव के समय भी कई गीत गाए जाते हैं । मागलिकता केवल शादी, विवाह और प्रसव के साथ ही जुडी नहीं है । खेतिहर-समाज में मागलिकता फसल के साथ जुडकर प्रकट हुई है सभ्य-समाज मे भी मागलिकता कई सामाजिकताओ के साथ जुडी मिलती है । इसी भिन्नता के कारण गावो और शहरो में सास्कृतिक-ढाचा में भिन्नता मिलती है ।

इन सास्कृतिक-ढाचो का सृजन और उसमे व्यवहृत गीतो का गुथन मानव समाज में कैसे होता है, उसे एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है ।

राजस्थान मे घुडला-पर्व मनाया जाता है । घुडला-पर्व का क्षेत्र मारवाड तक ही सीमित है । घुड़ला का सृजन एक ऐतिहासिक घटना विशेष को लेकर हुआ है ।

मुसलमान-कालीन भारत मे एक बार राजस्थान के मारवाड़ कहे जानेवाले भू-भाग मे मुसलमानो का आक्रमण हुआ था । जिस मुसलमान आक्रमण की बात यहा की जा रही है, उस मुसलमान टुकडी का नेतृत्व घुड़ला खा नामक एक सेनापति कर रहा था । घुडला खा

हिन्दुओं पर विजय पाता हुआ मेडता पहुँचा। जब घुड़ला खा मेड़ता शहर मे प्रवेश कर रहा था तो उसने मेड़ता शहर के पास वाले तालाब पर कुछ बाल-कुमारियो पर आक्रमण कर अपने कब्जे में ले लिया। बाल-कुमारियो को अपने कब्जे म लेने का घुडला खा का प्रयोजन उन बाल-कुमारियो को मुसलमान बनाना था। घुडला खा के इस कार्य की खबर मौत की तरह फैली। कुछ बहादुर हिन्दू सिपाहियो ने घुडला खा का सामना किया। घुडला खा उन बाल-कुमारियो को ले अजमेर भागने का प्रयास करने लगा। लेकिन हिन्दू सिपाहियो ने घुड़ला खा और उसकी टुकडी का पीछा नही छोड़ा।

काफी समय तक यह घुड-दोड होती रही। घुड़ला खा कोई चारा न देख एक स्थान पर जमकर हिन्दू सिपाहियो से युद्ध करने लगा। हिन्दू और मुसलमानो मे आधेदिन तक जमकर लड़ाई होती रही। हिन्दू लोगो को ज्यो-ज्यों इस घटना का समाचार मिलता रहा त्यों-त्यो अन्य हिन्दू सिपाही इन युद्ध में रत हिन्दू सिपाहियो का साथ देते गए। घुडला खा हिन्दुओ की इस बढती हुई सेना का सामना नहीं कर सका। वह लड़ाई मे मारा गया। इस लड़ाई में लगभग सारे मुसलमान मारे गए। वे बाल-कुमारिया जो मुसलमानो द्वारा कैद करली गयी थी पुन मुक्त कर दी गयीं।

घुडला खा इस युद्ध मे मारा ही नहीं गया वरन् उसका बदन भाला और तीरो से छलनी कर दिया गया। घुडला खा का शरीर नही रह गया था, रह गया केवल मात्र छिदा हुआ मानव कंकाल।

बाल-कुमारियों का यह उद्धार हिन्दुओं के लिए शुभ घटना थी, जो कालान्तर में मांगलिक बन गयी। इस घटना से बाल कुमारियों का सतीत्व बच गया। बाद में इस घटना को हर साल याद किया जाता रहा।

अंग्रेज-कालीन-भारत में जब सामाजिक-परिस्थितियां इतनी अराजकतापूर्ण नहीं रह गयीं, जीवन-यापन के साधन जब नई सीमा-बिन्दु बनाने लगे और सभ्यता ने जब नया सापेक्ष स्थायीत्व प्राप्त कर लिया था तब इसे राज्याश्रय मिल गया। इस घटना के चारों ओर जो पर्व पहले से बन गया था उसे और भी बृहद रूप मिल गया।

इस तरह धीरे-धीरे घुड़ला रक्षा का एक प्रतीक भी बन गया। वह प्रतीक बना एक घड़ा, जिसके चारों ओर छेद ही छेद रहते हैं। उस घड़े को मांगलिकता देने के लिए उसमें एक दिया जलाया जाने लगा। बाद में पर्व का रूप कुछ ऐसा रहा कि एक कुमारी बालिका उस अनेक छेदों वाले घड़े को सिर पर रखकर अन्य बाल-कुमारियों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को गीत गाती हुई जाने लगीं। इन गीतों में उसी घटना सम्बन्धी स्थापना को प्रस्थापित कर दिया गया है।

समयान्तर में यह घड़ा और यह पर्व सतीत्व का प्रतीक बन गया और हिन्दुओं का एक त्योहार हो गया। जिसे बाल-कुमारियां आज भी सगर्व मनाती हैं। आज इस पर्व की सामाजिक पृष्ठ-भूमि एक दम गायब हो कर रहस्यमय हो गई है। इस पर्व के साथ गीत

भी जुड़े हुए हैं जो केवल इस पर्व पर गाए जाते हैं ।

अत. यह आवश्यक लगता है कि इस प्रकार के अन्य गीतों का सकलन करके सास्कृतिक-ढाचो का अध्ययन किया जाय । इसी से संस्कृति की उत्पति का पता लग सकेगा ।

मानव-सस्कृति के सास्कृतिक-ढाचो में लोक-गीत सहज ही मिलते हैं । लेकिन यह नहीं भूल जाना चाहिए कि लोक-गीतों की तरह प्राचीन-समाज में लोक-कथाएं, लोक-वार्ताए, लोक-तरीके, लोक-परम्पराए मिलती हैं जो सास्कृतिक-ढाचों के माध्यम से अपने को जिन्दा रखते हैं । इस सम्बन्ध में यह बात कहने योग्य है कि प्राचीन-समाज ज्यों-ज्यों सभ्य होता जाता है सास्कृतिक-ढाचों के रूप व्यापकता लेने लगते हैं । सस्कृति के साथ सास्कृतिक-ढाचे परिवर्तन के बावजूद भी जुड़े रहते हैं । मानव-समाज के विकास के साथ इन सास्कृतिक-ढाचों में लोक-सार, समारोहात्मकता और एहिक पर्व वृति का पुट गहन से गहनतम होकर जुडा रहता है ।

समाज के पिछड़े वर्गों में आज भी कई प्राचीन सास्कृतिक-ढाचे अपना अस्तित्व बनाएं हैं । मानव-समाज अपने मे विभाजित होने के कारण जिन वर्गों का शैक्षणिक स्तर ऊपर उठ गया है वे उस प्राचीन सस्कृति-के खोल मे छुटकारा पाकर कुछ अपने निजि सास्कृतिक-ढाचे तयार कर लिए हैं । सामाजिकता के नाते लोक-सार ही वह तत्व है जिसके आधार पर बढती और विकसिक होती हुई सस्कृति-उनको जिन्दा रखती है । समाज विभाजित होने के कारण समाज के विकास का क्रम तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है लेकिन सस्कृति

के विकास की लीकें टेढ़ी मेढ़ी होने से स्पष्ट और सरल रेखा के रूप में प्रतिपादित नहीं दीख पड़ती ।

लोक-कथा की बात लीजिए । राजस्थान मे 'राणादें' की लोक-कथा इसी प्रकार अपना अस्तित्व सांस्कृतिक-ढाचों के माध्यम से आज तक बनाए हुए हैं । राजस्थान मे स्त्रिया जब सूर्य भगवान की आराधना में उपवास रखती है तब वे 'राणादे' की कथा को एक दूसरे से सुनाती हैं । इसी प्रकार कार्तिक के स्नान के बाद भी स्त्रिया नियमित रूप से अनेक कथाएं एक दूसरे को सुनाती हैं । इन कथाओं के कथोपकथन मे उनका 'महात्मय' होता है ।

★

अध्याय चार



लोक (FOLK)

हिन्दी-साहित्य-जगत में लोक-साहित्य, लोक-गीत, लोक-कथा आदि के सन्दर्भ में 'लोक' शब्द का प्रयोग आरम्भ से ही सदिग्ध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'लोक' शब्द कभी अंग्रेजी के 'बैलेडस' शब्द के समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुआ है, तो कभी अंग्रेजी शब्द 'फोक' के समानार्थक रूप में। वैसे भी अंग्रेजी में 'फोक' शब्द का प्रयोग मानव-शास्त्रवेत्ताओं ने मानव-विज्ञान सम्बन्धी आरम्भिक खोजों की अनिश्चितता के कारण आदिम और प्राचीन लोगों की संस्कृति के लिए काम में लिया है। परन्तु कालान्तर में अंग्रेजी शब्द 'फोक' के अर्थ में व्यापकता आने लगी। इस व्यापकता को लाने में पाश्चात्य मानव-शास्त्र वेत्ता वाज, जेनफर्थ, राजेल, ऐरे, स्टेनले, वर्टन, मार्गन, मेकलेनन्, लेटरन्यू, टेलर, फ्रेजर आदि सम्मिलित हैं। साधारणतया इस शब्द का प्रयोग मानव-शास्त्र वेत्ता (anthropologist) प्रिमिटिव या प्राचीन के अर्थ में प्रयुक्त करते थे। बाद में उसका अर्थ संस्कृति की गत्यात्मकता के साथ जोड़ कर उसी अर्थ के रूप में लिया जाने लगा।

योरुप मे १८४६ मे डब्ल्यू० जे० टोमस * ने 'फोक' शब्द का प्रयोग उस वर्ग की रीति-नीति, प्रथाओं, विश्वासो आदि के लिए किया है जो सभ्य जाति मे भी असंस्कृत-अवस्था मे पड़ा रह गया है। भारतवर्ष मे विशेष कर 'लोक शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है। ऐसे लोक-साहित्य के अध्ययन मे दो बातो का मिश्रण हो जाता है। एक तो असस्कृत जातियों मे लोक साहित्य रूपी जो अवशेष बच गया है वह मानव-थाती के रूप में सामने आने लगता है और दूसरे असस्कृत जातियो मे बचे रहे साहित्य के आदिम-विचारों के क्रमिक विकास से हट जाने के कारण उनका सही ऐतिहासिक मूल्याकन नहीं हो सकता है। इस तरह भारतवर्ष मे 'लोक' शब्द का प्रयोग निम्न वर्ग की पार्थिव तथा मानसिक सस्कृति को अभिव्यक्त करने के लिए उपयोग किया गया है।

लेकिन बाद में मानव-शास्त्र वेत्ताओ ने 'लोक' शब्द का प्रयोग आदिम मानव-समाज की जनपदीय प्रथाओ, गाथाओं, रुढियों, वार्त्ताओ, अन्य विश्वासो से सम्बन्धित अर्थ मे लिया है। यहा यह कहना अप्रासगिक न होगा कि असस्कृत जातियों में पाए जाने वाले विश्वासो और विचारो का स्तर भी निम्न रहता है और आदिम-समाज का स्तर भी निम्न अवस्था का था। लेकिन असस्कृत-जातिया की सस्कृति और आदिम-समाज की सस्कृति में बड़ा अन्तर है। दोनों प्रकार की संस्कृति के अध्ययन मे दो प्रकार के नतीजे निकाले जा सकते हैं। दोनो की गत्यात्मकता और तार्किकता उनकी अपनी

---

* W J Thomas

सामाजिक स्थिति के कारण भिन्न भिन्न रहती हैं। इसलिए 'लोक' शब्द का प्रयोग असंस्कृत जातियों की सस्कृति को लेकर कभी नहीं किया जाना चाहिए।

मानव-समाज मे हम देखते है कि सस्कृति दो आवाध-धाराओं में विकसित है। मनुष्य की सवेदात्मक-लीके, मानसिक-विकास और मानवीय-व्यवहार मोटे तौर पर इन दोनों धाराओं में पृष्ठभूमि के तौर पर विद्यमान रहते हैं। मानव-सस्कृति की एक धारा ऐसी भी है जो स्थापित जीवन-पद्धति के आधार पर लोक-सार को लेकर अवयवी रूप से सीमाहीन लेकिन सीमित रेखाओं में प्रसरित होती है। 'लोक' शब्द का प्रयोग सस्कृति के केवल उस अवयवी भाव को प्रकट करने के लिए किया जाना चाहिए। चाहे वह अवयवी-भाव प्राचीन-समाज का हो या आधुनिक सभ्य समाज का। मानव-समाज मे संस्कृति की यह धारा अवयवी रूप से विद्यमान रहने के साथ साथ उसका अवयवी रूप से विकास होता रहता है। यह क्रमिक विकास की लड़ कभी २ टूट भी जाती है, लेकिन अन्ततोगत्वा वह अपना विकास पथ ढूंढ ही लेती है। यह आवश्यक नहीं है कि संस्कृति की इस अवयवी धारा का विकास देश-काल विशेष मे रहने वाले समाज म ही हो। सस्कृति के अवयवी धारा की क्रमिकता कई समाजों मे फैली मिल सकती है। अत• लोक शब्द का प्रयोग सस्कृति की केवल उस अवयवी-धारा के किसी भी पहलु को व्यक्त करने के लिए किया जा सकता है। चाहे फिर वह साहित्य का कोई रूप गीत, कथा, वार्त्ता, कहानी, नाटक आदि क्या न हो। उसे लोक-साहित्य, •लोक-कथा, लोक-वार्त्ता, लोक-नाटक के

अन्तर्गत लिया जा सकता है ।

हिन्दी-साहित्य-जगत के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि 'लोक' शब्द का प्रयोग इन सही अर्थों में नहीं हुआ है । इससे लोक साहित्य के अध्ययन की दिशा गति-शून्य हो गयी है । लोक-साहित्य के अध्ययन से जो निष्ठा की सुवास उठनी चाहिए थी वह नहीं उठ पाई है। हिन्दी में लोक-साहित्य के नाम पर एक प्रकार का घासलेटी साहित्य घर कर गया है ।

आदिम-समाज में आत्मावाद, जादू, प्राकृत-धर्म और अन्य विश्वास मिलते हैं लेकिन सबके लिए 'लोक' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता । उसका प्रयोग विशेषता के रूप में केवल तब किया जाना चाहिए जब कोई संस्कार मानव-संस्कृति में अवयवी रूप से गुंथा हो ।

✓ वैसे भी प्राचीन भाषा में 'लोक' शब्द का अर्थ जनता से और ऐहिक जगत में लिया जाता रहा है । लोक शब्द से कभी भी पार-लौकिक अनुमान नहीं लगाया गया है । लोकायत-दर्शन हमारी इस बात की पुष्टि करता है । लोकायत-दर्शन के लिए तो यह एक सर्व-सम्मत बात थी कि 'लोकेषु आयत' लोकायत ।'

लोक का सीधे सादे शब्दों में अर्थ होना चाहिये मनुष्य की प्रतिकृति से क्योंकि मनुष्य ही समाज का प्रारूप है। मनुष्य अन्य मनुष्यों के सहयोग और सामाजिक सम्पर्क के कारण ही अपनी योग्यता को विकसित करता है । मनुष्य जब समाज बनाता है तो उसके व्यवहार में यदि हाड़ मास के साधारण व्यक्तियों को ही लाभ न पहुँचे तो वह

सामूहिकता और अवयवी भाव अधिक दिनों तक नही चलने वाला होता। समाज की सामूहिकता में लोक की अभिव्यक्ति होती है और सामूहिक अहं मे व्यक्ति के अहं की ध्वनि ही झकृत होती है। इसमे व्यक्ति की मूर्धाभिषिक्तता की बलो नहीं होती। व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक रहते हैं।



अध्याय पांच

लोक-सार

अब तक के विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा कि लोक-साहित्य उसके समूचे रूपों सहित मानव-समाज के सांस्कृतिक-ढांचों के साथ अवयवी रूप से जुड़ा रहता है। लोक-साहित्य और सांस्कृतिक-ढांचों में जो अवयवी सम्बन्ध बना रहता है वह लोक-सार से निर्धारित होता है। लोक-साहित्य के तत्वों में और लोक-सार में जितनी समीपता होती है लोक-साहित्य उतना ही निष्ठावान होता है, लोक-साहित्य में लोक-मानव की प्रतिष्ठाता उतनी ही गहरी होती है। लोक-साहित्य में लोक-सार ही वह उर्वरा भूमि है जो लोक-साहित्य का सिंचन करती है। लोक-साहित्य के तत्व जब लोक-सार से परे हट जाते हैं या लोक-सार के अलावा अन्य तत्वों को पकड़ने लगते हैं तो लोक-साहित्य समाज के उन सांस्कृतिक-ढांचों से पतझड़ के पत्तों की तरह झड़ने लगते हैं। लोक-सार में परिवर्तन आता रहता है उससे नई संस्कृति का निर्माण होता है। नई संस्कृति के प्रतिपादन के बाद मानव समाज में नए सांस्कृतिक-ढांचे बनने लगते हैं और नया

लोक-साहित्य उसमें जोड़ा जाने लगता है ।

इसलिए प्रश्न होता है कि लोक-सार क्या है ? उसका सृजन किन तत्वों को लेकर होता है ?

लोक-सार की पारिभाषिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए आवश्यक है कि लोक-सार को मानव-समाज और पशु-समाज को एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में समझा जाय ।

मानव-समाज को उत्पन्न हुए आज लगभग ढाई-करोड़ साल हो गए हैं । मानव-समाज के इस काल को लिखित और अलिखित दो भागों में बाटा जा सकता है । लिखित इतिहास के पहले एक ऐसा काल था जो अलिखित था और जिसे बहुधा इतिहासज्ञ प्राग-ऐतिहासिक काल कहते हैं । इस काल में कथाओं, पुराण-कथाओं, पुराणों और महा-काव्यों आदि का सृजन हुआ था । लिखित इतिहास के अध्ययन के साथ मानव-शास्त्र-वेताओं (anthropologist) ने उस युग की कथाओं, अन्ध-विश्वासों और काव्यात्मक कल्पनाओं का अध्ययन किया है । मानव-शास्त्र वेत्ताओं के लिए यह प्राग-ऐतिहासिक काल ऐतिहासिक-महत्व का काल रहा है ।

मानव-शास्त्रियों ने इस प्राग-ऐतिहासिक काल का अध्ययन कर स्थापित किया है कि मनुष्य ने इस काल में भी एक प्रकार की सस्कृति का निर्माण किया है । उनका कहना है कि पुरान-कथाएं, अन्ध-विश्वास, और महाकाव्य उस प्राग-ऐतिहासिक-काल वाली आदिम सस्कृति की ही बौद्धिक अभिव्यक्ति और अभिव्यंजना है ।

मानव-प्रकृति के गठन में जो स्थायीत्व आज हमें दिखाई दे रहा है उसकी नींव प्राग-ऐतिहासिक-काल में ही पड़ गई थी। मानव-शास्त्र-वेत्ताओं ने इस प्राग-ऐतिहासिक काल को क्रमिक रूप से समझाने का प्रयास किया है। लेकिन कई अंशों में अभी भी वह क्रमिकता अधूरी रह गयी है।

नियम-बद्ध भौतिक प्रकृति की गोद में लोक-सार ने जैसा रूप लिया और परिपक्व हुआ है, उस मनोमय रूप को समझना होगा ताकि लोक-सार को समझा जा सके।

मनुष्य का अपना अस्तित्व महत्वपूर्ण है। आदिम मानव के रहन-सहन और सामाजिक परिस्थितियों का जो अध्ययन मानव-शास्त्र-वेत्ताओं और नृ-विज्ञानिकों ने किया है उसमें उन्होंने कुछ प्राणी-शास्त्रीय नियमों का पता लगाया है। उनकी स्थापना है कि पशु-जाति पर लागू होने वाले अस्तित्व के संघर्ष के नियम मानव-जाति पर भी लागू होते हैं। अन्तर केवल स्तर का बना रहता है। पशु-जगत में अस्तित्व के संघर्ष के इन नियमों का पशुओं को ज्ञान नहीं होता। वे स्वतः सहज बुद्धि (instinct) से कार्य करते रहते हैं। पशुओं पर प्रकृति का नियामक प्रभाव रहता है। वहां प्राकृतिक-परिस्थितियां नियामक होती हैं। लेकिन मानव-समाज में ये अस्तित्व के संघर्ष के नियम ऊंचे स्तर पर-मनोवेग और बौद्धिक स्तर पर, रूपान्तरित हो जाते हैं। प्राकृतिक-निर्वाचन (natural selection) और अस्तित्व के संघर्ष का नियम (struggle for existence) मनोवेग और बुद्धि के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। अस्तित्व का

संघर्ष-प्राकृतिक निर्वाचन और सुयोग्य का जिन्दा रहना-मानव-जाति और पशुजाति मे एक-सा बना रहता है। मानव-प्रकृति या लोक-सार इन्हीं नियमो के अनुसार निर्धारित होता रहता है।

मानव-जाति के विकास को और अधिक बारीकी से देखने से पता चलेगा कि मानव-जाति का शैशव-काल मनुष्य के प्राणी-शास्त्री विकास का दूसरा नाम है। इसी आधार पर मानव-जाति और पशु-जाति मे भेद को प्रधानता दी गयी है। लेकिन मानव-जाति और पशु-जाति का यह भेद ऐसा भेद नहीं है जिसके बीच मे एक बड़ी खाई पड़ी हो। मानव-जाति और पशु-जाति एक विकसित होता हुआ प्रवाह है।

मनुष्य-जाति की पृथ्वी पर उत्पति कैसे हुई है, इस पर विकासवादियो ने पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। यहा इन बारीकियो मे पडने की आवश्यकता नहीं। लेकिन विकासवाद के सिद्धान्तो के आधार पर लोक-सार के लिए यह कहा जा सकता है कि मनुष्य और प्रकृति की उत्पति किन्ही आध्यात्मिक और पार-लौकिक कारणो से नहीं हुई है। मानव-प्रकृति और लोक-सार को किसी भी तरह पार-लौकिक सत्ता के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। ऐसा करना लोक-सार के सही तत्वो को नहीं पकड़ पाना होगा।

लोक-सार पार-लौकिक नहीं होता, साथ ही वह अपरिवर्तन-शील प्रमेय (Category) भी नहीं है। लोक-सार बदलता नहीं, मानव-प्रकृति बदलती नहीं यह एक ऊलजलूल, बेतुकी और अनुचित

धारणा है। वास्तविकता इस स्थापना से कैसे दूर है। बदलना लोक-सार का सहज-स्वभाव है। लोक-सार एक वृत्तात्मक रूप में नहीं बदलता रहता है, वह एक ऊपर विकसित होने वाली स्प्रिंग की तरह विकसित होता रहता है। लोक-सार बढ़ते हुए ज्ञान के साथ अपने तत्वों को अपने में संजोकर विकसित होता रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो इतिहास को एक अवयवी प्रवाह (organic process) या विकास-प्रवाह नहीं माना जा सकता। ए० एन० व्हाईटहेड के शब्दों में कहना होगा—

"सब सामाजिक सिद्धान्तों का और इससे मानव-जीवन का मूल इस बात में है कि वह सम्पूर्णत्व को प्राप्त नहीं हो सकती। चेतन प्रकृति में यह स्वतः सिद्ध सी बात है। विकास या पतन ये दो ही पथ मानव-जाति के सामने हैं। वास्तविकता, एकदम वह जो वास्तविक है, मूल में एक प्रवाह है। अतः हर साकार वास्तविकता को होने की अवस्था में समझना होगा। ऐसा कोई ठहराव प्रकृति में नहीं मिलता जब साकार-वास्तविकता स्थिरता लिए हो। किन्हीं भी परिस्थितियों में ऐसा नहीं होगा—सत्य इससे भिन्न है। विशुद्ध अपरिवर्तनशीलता विश्व के निचोड़ के प्रतिरोध की बात है ❋

The foundation of all understanding of sociologic theory that is to say, of all understanding of human life is that no static maintenance of perfection is possible This axiom is rooted in the nature of things Advance or decadence are the only choices offered to mankind . The very essence of reality, that

उपरोक्त दो सीमाओं को स्थापित करने के बाद यह सरलता के साथ कहा जा सकता है कि लोक-सार एक अविच्छिन्न-प्रवाह का दूसरा नाम है। उसका स्वरूप अपरिवर्त्तनशील और पार-लौकिक नहीं है। लोक सार किस तरह इस अविच्छिन्न-प्रवाह के रूप मे अपने को विम्थापित करता है, यह परीक्षण की बात हैं। मानव-जाति के समूचे इतिहास के विकास में जिस प्रकार प्राणी-शास्त्र-विकास (Biological Evolution) एक आम पिरोए हुए धागे की तरह वना रहता है। उसी प्रकार "लोक-सार" (Human nature) एक अवशेष के रूप मे वदलते हुए मानव-जाति के समूचे विकास प्रवाह में वढता रहता है। आदिम-मानव को यह लोक-सार पशु-जगत से धरोहर के रूप में मिला है। लोक-सार की उत्पति मानव-जाति की उत्पति के पहले की उत्पति है। मानव-जाति की उत्पति पशु-जाति के रूप-परिवर्तन से हुई है। प्राणी-शास्त्रीय अर्थों मे पशु से मनुष्य का प्रादुर्भाव कोई भिन्न रूपात्मक प्रादुर्भाव नही है। परिवर्तन मे न उसमे शारीरिक भिन्नता आई है और

---

is of completely real, is process Thus, each actual thing is only to be understood in terms of its becoming and perishing There is no halt in which actuality is just its static self, accidently played upon by qualifications desired from shift of circumstances The converse is the truth The pure conservative is fighting against the essence of the universe" (A N Whitehead-Adventure of Ideas)

न आकार-भिन्नता । जिस प्रकार पानी के ठंडे होने पर उसमें गुणात्मक और परिमाणात्मक परिवर्तन आकर वर्फ बन जाता है, उसी प्रकार की कोई बात पशु-जाति से जब मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ तब नहीं घटी । गठन और आकार में आदिम-मनुष्य का मस्तिष्क वन-मानुष के मस्तिष्क जैसा ही है । वन-मानुष से जो भावात्मक या मनोवेगात्मक और बौद्धिक धरोहर मनुष्य को मिली है वह प्राणी-शास्त्री विकास के प्रवाह की ही उपज है । जड़-प्रकृति में जीव की उत्पति के बाद का इतिहास इस विकसित होते 'लोक-सार' का इतिहास है । नियम-बद्ध भौतिक प्रकृति की पृष्ठ-भूमि में लोक-सार किन-किन रूपों में कैसे-कैसे पनपा है, यह आदिम-मानव की कहानी है । आदिम-समाज में इन विशेष अवस्थाओं में लोक-सार व्यक्ति के प्राणी-शास्त्रीय मनोवेग द्वारा निर्धारित होते हैं । आदिम-समाज में लोक-सार आदिम-मानव की सहज-वृति (Instinct) के समकक्ष या समरूप रहता है । आदिम-मानव अभी इतना विकसित नहीं हो पाया था कि वह अपनी सहज-वृति की अभिव्यजना से ऊपर उठता । श्री जेम्स फ्रेजर के शब्दों में कहना होगा, "जगली जानवर एक सी पाई जाने वाली चीजों के विचारों से परस्पर विचारात्मक एकता ला देता है । उसके बिना उसके लिए एक दिन भी जिन्दा रहना दूभर हो जाता ।"

विकासवाद के प्रवर्तक श्री डारविन ने भी इसी बात की पुष्टि की है । उन्होंने विकास प्रवाह को मनोवैज्ञानिक पहलु से न देखकर प्राणी-शास्त्रीय पहलु से देखा है । उनका कहना है कि मनुष्य के

मस्तिष्क के गठन की तुलना पशु के मस्तिष्क के गठन से की जा सकती है। दोनों दृष्टिकोणों के (मनोविज्ञान और प्राणी-शास्त्र) आधार पर मानव-शास्त्र वेत्ताओं (Anthropologist) और संस्कृति के इतिहासकारों ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि किस तरह मानव-जाति में लोकसार पशु-जाति से धरोहर के रूप में मिला है। उदाहरणार्थ रावर्ट ब्रिफाल्ट लिखता है "एक तर्क-संगत मनोविज्ञान की बात इसलिए की जा सकती है कि मानव-मस्तिष्क उन प्राथमिक अन्तःवृत्तियों (Instincts) से मिलकर बना है जो सब प्रकार के जीवों में पाई जाती है।"*

अतएव प्रश्न होता है कि यदि वन-मानुष और आदिम-मानव में विशेष वर्णित भेद नहीं है तो फिर वन-मानुष और आदिम-मानव का भेद किस आधार पर किया गया है। वन-मानुष और आदिम-मानव में शारीरिक-भेद नहीं है। वन-मानुष आदिम-मानव का भेद धारणात्मक विचारों का भेद है। धारणात्मक विचार ही वह व्यवच्छेदक-धर्म (Differentia) है जिसके आधार पर आदिम-मानव को वन-मानुष से ज्यादा विकसित कहा जा सकता है। आदिम-मानव में पीली-मज्जा (Grey matter) अधिक मात्रा में होने से ऐसा है। धारणात्मक विचारों के भेद के साथ और भी भेद प्रकट होने लगते

* "A scientific psychology has become possible since the fact has been apprehended that the human-mind is built upon a foundation of primal impulses common to all forms of life, of instinct similar to those which shape animal behaviours"

हैं । धारणात्मक विचारों का मूल आधार है—ज्ञान । ज्ञान की अनुपस्थिति मे कोई विचार नहीं उठते । गृतरा मनुष्य और पशु का भेद स्पष्टतया तब प्रकट होने लगता है जब निश्चित ज्ञान आदिम-मानव प्रकट करने लगता है । ज्ञान के महत्व देने का हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि वन-मानुष या पशु-जगत में सहज-वृत्ति को एकदम महत्व दें । उस सहज-वृत्ति को जिसके आधार पर पशु विविध चीजों मे परस्पर विभेद करता है यही उन पशुओं की स्मृति है । लेकिन यह स्मृति मनुष्यों की उस स्मृति से भिन्न है जो आदिम-समाज या सभ्य-समाज मे हमे मिलती है । वन-मानुष या पशु-जगत में पाई जाने वाली स्मृति का धरातल सहज-वृत्ति के समकक्ष बना रहता है तो सभ्य-मनुष्य में स्मृति का रूप मनोवेगी धारणात्मक ज्ञान पर आधारित रहता है । वन-मानुष और पशु-जगत मे स्मृति चीजो को समझने की एक आरम्भिक योग्यता होती है । पशुओं की स्मृति मे धारणात्मक विचारों का अभाव रहता है । लेकिन हम जीव के विकास के प्रवाह मे ज्यों-ज्यों आगे बढते जाते हैं और बन्दर तक पहुँच जाते हैं त्यों-त्यों हम देखते हैं कि जीव की प्रतिक्रिया सहज-वृत्ति से बढ़कर धारणात्मक विचारों की ओर बढ़ते जाते हैं । बन्दर मे बहुत ही क्षीण मात्रा मे धारणात्मक विचार मिलते हैं । लेकिन बन्दरों में धारणात्मक विचार मिलते अवश्य हैं, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । श्री कोहलर महोदय ने बन्दर पर जो विशेष मनोवैज्ञानिक प्रयोग किए हैं, उनके आधार पर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि बन्दरों मे एक विशेष प्रकार के ज्ञान

की योग्यता होती है। वे अपनी पुस्तक 'वन्दरो की मनोदशा' (The Mentality of Apes) में लिखते हैं, "मेरे जानवरों के व्यवहार के लम्बे और व्यवस्थित निरीक्षण के आधार पर विशेष कर बिल्लियों के व्यवहार के आधार पर इस दृष्टिकोण की अनुचितता प्रकट होती है कि जानवरों में धारणात्मक विचारों की योग्यता नहीं होती। धारणात्मक विचारों की मानव-योग्यता के अवशेष उनमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। उनका व्यवहार विशेषकर उन चीजो की स्मृति से निर्धारित रहता है जो प्रत्यक्ष दृश्य जगत में विद्यमान नहीं रहता है।" *

वन-मानुष और पशु-जाति का अनुभव यदि उसे अनुभव कहा जा सके केवल दृश्य-जगत तक ही सीमित रहता है। प्रत्यक्ष में जो भी उनके सामने पड जाता है वे उसके प्रतिक्रिया स्वरूप व्यवहार करते हैं। यही आरम्भिक योग्यता आदिम-मानव को धरोहर के रूप में मिली है। अत: पशु-जगत मे जीव-प्रकृति या लोक-सार सहज-वृति के स्तर पर ही मिलता है।

---

* "My long and fairly systematic observation with the view that animal behaviour, particularly of cats, warrants disagreement with the view that animal are altogether incapable of what can be called conceptual thought Rudiments of that human capacity are clearly discernible in them Their behaviour is often determined by the memory of things not present in their field of vision"

लोक-सार मानव-समाज में आरम्भ से ही मानव के हर व्यवहार से उसके हर कार्य कलापों में मिलता है। लेकिन लोक-सार की यह अभिव्यक्ति समाज के सांस्कृतिक-पर्वों के माध्यम से उद्भूत होती है; वहां लोक सार वाचाल रहता है। लोक-सार की अभिव्यक्ति सांस्कृतिक-ढांचों में घनीभूत होने के कारण वहां सहज ही दृष्टि-गत हो जाती है। समाज के इन ढांचों में आई पर्व-वृत्ति और समारोहात्मकता उस सार की गत्यात्मकता को अभिव्यक्त करती है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा कि लोक-सार न तो कोई अपने में आध्यात्मिक चीज है और न अपरिवर्तनशील तत्व। यह तो एक विकसित होता हुआ प्रवाह है। वह समाज के विकास के साथ विकसित होता रहता है। ज्यों ज्यों व्यक्ति की योग्यता विकसित होती जाती है उसका दायरा भी विस्तृत बनता जाता है।

इस तरह अब तक के उपलब्ध लोक-साहित्य का अध्ययन और विवेचन इस बात को स्थापित करने को मजबूर कर देता है कि आप्त-धर्म की धार्मिकता लोक-सार को न तो उसके सृजन में योग देती है और न लोक-साहित्य को समाज के सांस्कृतिक-ढांचों से अवयवी रूप से जुड़ने में योग देती है। सच बात तो यह है कि आप्त-धर्म लोक-सार को झुठलाता है। वह कई सामाजिक अनाचारों को व्यवहृत होने में योग देता है।

"आप्त-धर्म की महत्ता केवल इस में रहती है कि वह जीवन के मूल्यों और वास्तविक-जगत के सही चित्र को मन चाहे रूप से निम्न स्तर पर ला खड़ा करता है। ऐसा तभी हो सकता है जब मनुष्य

की तर्क-संगति के साथ खिलवाड की जाय।" *

इस तरह हम देखते हैं कि जिसे लोक-सार या मानव-प्रकृति की सज्ञा देते हैं वह एक ऐसी योग्यता है जो मनुष्य के अपने अस्तित्व के सघर्ष को सामुहिक रूप से चलाने में योग देती है। साथ ही इससे मनुष्य का प्रकृति के विरुद्ध सघर्ष की नींव और अधिक दृढ से दृढतर होती जाती है।

मनुष्य का लोक-सार अनुभव जनित है। अत' उसके उद्गम स्थान को मनुष्य मे ही ढूंढा जाना चाहिए। लोक-सार और लोक-साहित्य कोई विविक्त और असम्पृक्त (isolated) व्यक्ति की उपज नहीं है। विचार की तरह लोक-सार भी मानवो के सम्पर्क से ही उत्पन्न होते हैं, द्वैत में ही हमें तर्क-संगति और लोक-सार का प्रजनन मिलता है, एकान्त में नहीं। वैसे भी मनुष्य की उत्पत्ति के लिए दो जीवों की आवश्यकता पड़ती है चाहे वह मनुष्य-रूप भौतिक हो या आध्यात्मिक (intellectual) । मनुष्य का मनुष्य से सम्पर्क प्रधान बात है। यही सत्य और विश्वजनीनता की कसौटी है।

* "The technique of religion in lowering the value of life and distorting the image of the real world in a fantastic way, and this presupposes the intimidation of intelligence "

★

अध्याय छः

★

सांस्कृतिक-ढांचे

'लोक-साहित्य-एक निरूपण' वाले अध्याय में इस स्थापना को बल दिया गया है कि लोक-साहित्य वह साहित्य है जो समाज के सांस्कृतिक-ढांचों से अनयवी रूप में जुड़े होते हैं। यह परिभाषा आदिम-समाज और सभ्य-समाज पर सामान्य रूप से लागू होती है। सांस्कृतिक-ढांचों में आए हुए परिवर्तन से इस पर कोई असर नहीं पड़ता।

इसलिए प्रश्न होता है कि सांस्कृतिक-ढांचे क्या हैं? मानव-समाज में सांस्कृतिक-ढांचों का स्वरूप कैसे निर्धारित होता है? उनकी गत्यात्मकता और नियामकता क्या है? मानव-समाज के सांस्कृतिक विकास में उनका क्या स्थान है?

व्यक्ति और समाज पर यदि दृष्टिपात करें तो हमें व्यक्ति के दो प्रकार के क्रिया-कलाप मिलते हैं। एक तो वह क्रिया-कलाप हैं जो व्यक्ति अपने दिन प्रति-दिन के रहने में व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए स्नान करना, खाना खाना आदि वे कार्य कलाप हैं जो हर व्यक्ति साधारणतया अभिव्यक्त करता है। इन कार्य-व्यवहारों में

अन्तयत्री द्वैत-सम्पर्क की झलक नहीं रहती है । इन कार्य-व्यवहारों के अतिरिक्त व्यक्ति ऐसे काम भी करता है जिसे वह अकेला न करके समाज के अन्य व्यक्तिया के साथ मिल कर करता है । उदाहरण के लिए व्यक्ति का विवाह के समय का व्यवहार । इस प्रकार के व्यक्तियो के सामूहिक व्यवहार को सास्कृतिक-ढाचा कहा जा सकता है ।

दूसरे शब्दो मे सास्कृतिक-ढाचे के व्यक्तियो के व्यवहार की अभिव्यक्ति है जिससे मनुष्या का व्यवहार अपने मे असम्पृक्त, विविक्त और एकाकी निजत्व को छोड कतिपय सामाजिकता के आधार पर पु जीभूत हो जाती है । व्यक्तियों के इस प्रकार के व्यवहार के साथ एक प्रकार की समारोहात्मकता जुड़ जाती है । समाज मे आई इस सलवट को, अवगु फन को सास्कृतिक-ढाचे (Cultural-pattern) की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । मानव-समाज मे जीवन की चलती लीका मे ऐसे अनेक भंवर पडे मिलते हैं । मानव-समाज के अस्तित्व मे इस प्रकार के भवर, गु फन आवश्यक हैं । वे मनुष्य की सास्कृतिक-निधि हैं ।

मानव-समाज मे यह अवगु फन दो प्रकार का होता है । एक प्रकार का गु फन व्यक्ति को केन्द्र विन्दु बना कर फलीभूत होता है । दूसरे प्रकार का अवगु फन एक विशेष प्रकार की सामाजिकता को केन्द्र बनाकर । व्यक्ति के चारो ओर केन्द्रित होने वाले सास्कृतिक-ढाचे व्यक्ति के जन्म, विवाह और मृत्यु आदि से जुडे रहते हैं । वदिक-कालीन सस्कृति मे व्यक्ति के इस प्रकार के सोलह सस्कारो की बात की गयी है । अलग अलग युगो मे इनकी सख्या वदलती

लेकर होता है या किसी सामाजिक प्रयोजन विशेष को तैयार करके। घटना विशेष को केन्द्र-विन्दु वनाकर सृजन होने वाले सास्कृतिक ढाचा का जीवन-काल एक शताब्दी या उससे अधिक का नहीं होता। वे अल्प-काल तक ही बने रहते हैं। सामाजिक-प्रयोजन विशेष के आधार बने सास्कृतिकढाचो के जीवन-क्रम के सीमा-काल को नहीं निश्चित किया जा सकता। वे सीमाहीन तौर से बढते, बदलते और परिवर्द्धित होते रहते हैं। जव तक सास्कृतिक-ढाचे सस्कृति और लोक-सार के समरूप रहते हैं तभी तक उनका जीवन रहता है, तभी तक उसमे समाज के सव व्यक्ति भाग लेते होते हैं और तभी तक उनका सामाजिक प्रभामण्डल तेज और देदीप्यमान रहता है।

आदिम-समाज मे एक विशेष प्रकार का भौगोलिक अह वना रहता था—सकीर्ण और कीट मनोवृति वाला। उसी सामाजिक-अह की सकीर्णता के आधार पर उद्भिद-भाव (Totem) का सृजन होता था। उस उद्भिद-भाव के आधार पर आदिम-मानव ने उपासना और कवीला का सृजन किया था। लेकिन ज्यो-ज्यो समय वीतता गया आदिम मानव की उद्भिद-उपासना भौगोलिकता से हटकर एक व्यापक सामाजिक-प्रयोजन के रूप मे प्रसरित होती गई। उद्भिद-भाव के इस परिवर्तन के साथ ही सास्कृतिक-ढाचो के रूप में भी परिवर्तन आता गया।

व्यक्ति के चारो ओर केन्द्रित होने वाले सास्कृतिक-ढाचे मनुष्य को जिन्दा रहने मे जितने प्रकार के व्यवहारो की आवश्यकता पड़ती है—खाने की, पीने की, सभोग की और वौद्धिक रुझान

की—एक शब्द में द्वैत-सम्पर्क की, के आधार पर ही बनते और बिगड़ते हैं। सामाजिक प्रयोजन को लेकर बनने वाले सांस्कृतिक-ढाँचे व्यक्ति के मनोवेगों और सहज-स्वभाव की तृप्ति को लेकर बनते हैं। इन ढाँचों की नियामकता लोक-सार की अपनी गहराई है।

संस्कृति की अभिव्यक्ति केवल सांस्कृतिक ढाँचों तक ही आकर सीमित नहीं रह जाती, उसकी अभिव्यक्ति लोकगीतों में भी अभिव्यक्त होती है। यही कारण है कि सांस्कृतिक-ढाँचों में मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियाँ और भाव भंगिमाओं का असर रहता है। वहाँ मानव-जीवन की घनीभूत वेदनाएँ और तर्क-संगतियाँ एकीकृत होकर सांस्कृतिक रवों का रूप धारण कर लेती हैं।

सांस्कृतिक-ढाँचों के बनने के बाद उनमें एक बात और देखने को मिली है। संस्कृति और सांस्कृतिक-ढाँचों का विकास परस्पर सम-गति से नहीं होता। उसका विकास बहुत धीरे धीरे होता है। उनका सापेक्ष स्थाईत्व उन परिस्थितियों और कारणों के बदलने के बाद भी बना रहता है। जिन्होंने उसे उत्पन्न होने में योग दिया था। मानव-समाज का विकास संस्कृति और सांस्कृतिक-ढाँचों की तुलना में तीव्र गति से होता है। मानव-समाज के विकास में और संस्कृति के विकास और सांस्कृतिक-ढाँचों में परिवर्तन एक दूसरे के समानान्तर रूप में होता है। अन्तर केवल उनकी अपनी गत्यात्मकता का रहता है। समाज का विकास और सांस्कृतिक-ढाँचों का विकास एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। मानव समाज के विकास की तीव्र गति सांस्कृतिक-ढाँचों का सापेक्ष स्थाईत्व बराबर बना रहता है।

सामाजिक परिस्थितियो के परिवर्तन होने पर भी और नई सस्कृति के बीज पडने पर भी पुराने सास्कृतिक-ढाचे अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं। भौतिक पदार्थों की तरह या साकार वास्तविकता की तरह ये सास्कृतिक-ढाचे दिए होते हैं। जिस प्रकार मानव का भौतिक शरीर जड़ प्रकृति की पृष्ठ-भूमि में उत्पन्न होता है उसी प्रकार सस्कृति की पृष्ठ-भूमि मे इन सास्कृतिक-ढाचो का सृजन होता है और मनुष्य की तरह समाज में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखते हैं।

प्रायः देखा गया है कि मानव-समाज मे वे सास्कृतिक-ढाचे भी अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं जो अपनी लोक-सारीय उपयोगिता खो बैठे हैं। और वे ढाचे—लम्बे अरसे तक अस्तित्व में रह कर शनै शनै क्षीण होकर लुप्त हो जाते हैं।

और जो सास्कृतिक-ढाचे अपने में पूर्ण सामाजिक पूर्णत्व प्राप्त कर लेते हैं वे मानवीय थाती के रूप में जिन्दे रहते हैं। एक लोक-सारीय समारोहात्मकता के साथ कालिक रूप में बने रहते हैं।

कई बार ऐसा भी देखा गया है कि ये सास्कृतिक-ढाचे कभी कभी सम्पूर्णत्व की उस सीमा को नही पहुँच पाते और एकागीय रूप धारण कर वर्ग विशेष की चीज बने रह जाते हैं। उस अवस्था मे वे समुचित मानव विचारो और युक्ति-सगत भाव भगिमाओ को अपने मे सजोने मे असफल रहते हैं। इन सास्कृतिक-ढाचो की तुलना गर्भपात से की जा सकती है। ये समाज को रसातल की ओर ले जाने मे सहायक होते हैं। ऐसा तब

होता है जब न तो इनमें लोक-सार होता है और न मानवीय-संस्कृति के बीज । तब एक तरह से सांस्कृतिक-ढाचें मानव-समाज को दीमक की तरह खाने लगते हैं । सम-व्यवस्थित सांस्कृतिक-ढाचे मानवीय संस्कृति और लोक-सार से अपने को नियमित और सश्लिष्ट बनाए रखते हैं ।

सांस्कृतिक-ढाचों और लोक-साहित्य को लोक-सार किस तरह जिन्दा रखता है और किस तरह लोक-सार की मात्रा का उनमें से हट जाने पर वे झड़ने लगते हैं, को एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है ।

हिन्दुओं द्वारा समाज में आज राम-नवमी और जन्माष्टमी दोनों मनाई जाती हैं । दोनों प्राचीन सांस्कृतिक-ढाचे हैं । शताब्दियों तक उन्हें मनाया जाता रहा है लेकिन आज श्री कृष्ण की जन्माष्टमी लोगों में ज्यादा प्रिय है और सामाजिक समारोहात्मकता उसके चारों ओर अधिक घनीभूत हुई है । रामनवमी आज प्रिय है लेकिन जन्माष्टमी की तुलना में कम । इसका मूल कारण रामनवमी में लोक-सार की मात्रा का कम होना है । वैसे देखा जाय तो पता चलेगा कि श्री कृष्ण के चरित्र में वे सब मानवीय गुण विद्यमान हैं जो हाड मास के पुतलों में होते हैं । कृष्ण एक ओर स्नान करती गोपियों के कपड़े लेकर पर यौन-वासना की तृप्ति के लिए पेड़ पर चढ जाता है जो गीता-प्रवचनों द्वारा साधारण लोगों में उदात्तिकृत अह्स की तुष्टि करता है । इस तरह जन्माष्टमी के पर्व में, यदि यहा धार्मिकता को तूल न भी दिया जाय, तब भी कहना होगा कि

उसमें लोक-सार का स्वप्रक्षेपण (Projection) अधिक है और रामनवमी में कम। राम एक आज्ञाकारी पुत्र से अधिक नहीं है। जब तक मानवीय जीवन-पद्धति में आज्ञाकारी पुत्र, सती स्त्री रूपी-सीता, भरत जैसे भाई और कैकई जैसी माताएं थी तब तक राम-नवमी की लोक-प्रियता अधिक थी। लेकिन जब आज एक दम नई संस्कृति के बीज पड़ गये हैं तब रामायण के घिसे पिटे पात्रों में आधुनिक लोक-सार अपना स्थान नही बनाया रहा है और न भविष्य में ऐसा सम्भव हो सकेगा।

अंत में यदि यह कहा जाय कि मानव शास्त्रियों ने सांस्कृतिक-ढाचों को विभिन्न संस्कृतियों के रूपों में व्यवहृत किया है। वह एक अनुचित बात है। संस्कृति की सर्वांगीण परिभाषा इस स्थापना का अनुमोदन नहीं करती। साथ ही यहा यह कह देना भी आवश्यक लगता है कि सांस्कृतिक-ढाचों के अपने में परिपूर्ण होने के लिए उसमें लोक-गीतों का होना आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में रक्षा-बन्धन का उदाहरण दिया जा सकता है। सांस्कृतिक-ढाचे का परिपूर्ण होना उसकी अपनी अवयवीयता के कारण होता है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।



★

अध्याय सात

★

लोक-सार और सांस्कृतिक-ढांचे

गए अध्यायो में हमने यह बताने का प्रयास किया है कि लोक-सार क्या है और सास्कृतिक-ढाचों से हमारा क्या अभिप्राय है? साथ ही प्रसगवश हमने यह वतलाने का प्रयास भी किया है कि लोक-सार सास्कृतिक-ढाचो मे अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ होता है। लोक-सार सांस्कृतिक-ढाचो से किस प्रकार जुड़ा रहता है। उसको हम यहा कुछ सास्कृतिक-ढाचों के विकास के विशलेपण के साथ प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार यहा दो सास्कृतिक-ढाचो को (दीपावली और दुर्गापूजा को) कुछ वारीकी से यहा लेंगे।

प्रायः देखा गया है कि मानव-समाज में आदिम-काल से पुराण-कथा और महा-काव्यो का सृजन समय-समय पर होता रहा है। कतिपय पुराण-कथाओ के साथ उसके कथोपकथन के आधार पर कई सास्कृतिक-ढाचों का निर्माण हुआ है। वे जीवन-पद्धति के विकास की परिवर्तित परिस्थितिया में आज भी जिन्दा रह रहे हैं। इसलिए प्रश्न होता है कि पुराण-कथाओ और महा-काव्यों से

सम्बन्धित सास्कृतिक-ढाचों की उत्पत्ति कैसे और किन सामाजिक उपकरणों को लेकर हुई है। दीपावली एक ऐसा सास्कृतिक-ढाचा है जिसकी अपनी पौराणिक-कथा है और जिसका अपना महा-काव्य है। यही बात दुर्गा-पूजा पर भी लागू होती है।

इस सम्बन्ध में कहना होगा कि मानव-शास्त्री इन पुराण-कथाओं, महा-काव्यों और इसी प्रकार के अन्य विश्वासो के अध्ययन से इस स्थापना पर पहुँचे हैं कि पौराणिक-कथाओं, महा-काव्यो और सास्कृतिक-कथाओं में एकात्मक सम्बन्ध बना रहता है। उनकी मान्यता है कि प्राचीन ऐतिहासिक घटना कालान्तर में पौराणिक-कथा का रूप लेती है जो काफी लम्बे अर्से तक लोक-वार्त्ता के रूप में जिन्दा रहती है। अन्ततोगत्वा मानव-समाज मे जब लिखित-इतिहास का युग आरम्भ हो जाता है तब वह भापा के माध्यम से लिपि-बद्ध रूप धारण कर लेती है। उसी लिपि-बद्ध रूप को दूसरे शब्दो मे महा-काव्य कहते हैं। इस तरह आज मानव-समाज मे जो भी पुराण कथाए और महा-काव्य आदिम-काल से मिलते चले आते हैं उनका सृजन प्राग-ऐतिहासिक काल मे मौखिक रूप मे हुआ है। ये पुराण-कथाओ और महा-काव्य प्राग-ऐतिहासिक-काल में सास्कृतिक-ढाचों के मौखिक-आवर्त्तन के रूप में जिन्दा रहे हैं। आज भी कई सास्कृतिक-संस्कार अपनी क्रमिकता इसी कारण से जिन्दा रख रहे हैं। मनुष्य की जीवन-पद्धति मे एक अपनी निजि तारतम्यता रहती है जो लोगो को मौखिक आवरण द्वारा लोक-साहित्य का प्राग-ऐतिहासिक-काल मे जिन्दा रखने की ओर प्रेरित

करती है। इसी प्रेरक-शक्ति के कारण आदिम-काल में और आज भी पौराणिक-कथाएं और महा-काव्य उनके समरूप और समंजस सांस्कृतिक-ढाचों में परस्पर अवयवी रूप से गुंथी रह कर जिन्दा रह रही है।

दीपावली के सांस्कृतिक-ढाचे को लीजिए। इस सम्बन्ध में कहना होगा कि रामायण एक ऐसा महा-काव्य है जिसका सम्बन्ध एक ओर पौराणिक कथा से जुड़ा हुआ है तो दूसरी ओर उसका सम्बन्ध अवयवी रूप से दशहरे और दीपावली नामक सांस्कृतिक-ढाचों से जुड़ा हुआ है। इस सांस्कृतिक-ढाचे मे एक प्रकार की सामाजिक समारोहात्मकता और सामूहिकता लोक-सार के आधार पर लोक-पर्व वृत्ति के रूप में हेल-मेल के भाव को लेकर घनीभूत हुई है।

रामायण की पुराण-कथा का अध्ययन दो तरह से किया जा सकता है। एक तो उसकी सम्भाविक उत्पत्ति को लेकर और दूसरे उसके कथोपकथन में व्यवहृत नायक नायिकाओं को लेकर देखने कि बात है कि किस तरह यदाकदा मानव-समाज के विकास में चरित्रो को विकसित रूप दिया गया है और उनमें युग भावो को थोपा गया है। समाज के हर मोड़ में उन्हें नई आचार-मान्यताओं और अनुभवा के आधार पर नया विकसित रूप दिया गया है। रामायण के नायक और नायिकाओं के इस लगातार परिवर्द्धन और संवर्द्धन के कारण ही जन साधारण द्वारा उन नायका को वास्तविक व्यक्तियों के रूप मे लिया जाता रहा है और उनका महत्व बना रहा है। रामायण के नायको ने इसी कारण मे इतनी ऐतिहासिक महत्ता प्राप्त करली है

ढाँचे का वदलता हुआ अग बनी रहती है । मुसलिम कालीन भारत का दशहरा आज का दशहरा नही था । यह वात सभी सास्कृतिक त्योहारों के लिए कही जा सकती है ।

दीपावली और दशहरे के सास्कृतिक-ढाँचे में जुडे हुए महाकाव्य की इस गत्यात्मकता के अलावा उसके कथोपकथन की उत्पत्ति के वारे में विचार करना तर्क-संगत होगा । रामायण की तुलना होमर की इलियाड से की जा सकती है । यह अनुसंधान के लिए एक वडे काम की वात है कि होमर के इलियाड और वाल्मीकि कृत कथोपकथन और पात्रों में समरूपता है ।

इलियाड और रामायण में सामान्य रूप में मिलने वाली कुछ वाते ये हैं .

रामायण मे कई जगह खून की वर्षा का वर्णन मिलता है । इलियाड में भी ऐसे ही खून की वर्षा का वर्णन मिलता है । इलियाड में ऐसा तव होता है जव जायस का पुत्र सारमेदन मरता है । रामायण में ऐसा तव होता है जव रावण के पुत्र खर और दूषण मरते हैं । रामायण में कुवेर लक्ष्मी पति और मृत्यु के देवता शिव कई वार पासा डालते हैं । इलियाड में जोव ऐसा करता है ।

इन दोनों महाकाव्यों के कथोपकथन की परस्पर तुलना करने से पता चला है कि जिस प्रकार राम और लक्ष्मण एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते उसी तरह इलियाड में भी दो भाई एक दूसरे का साथ नहीं छोडते । इलियाड के अनुसार इन दो भाइयों को आरगो नगर से वनवास मिलता है, रामायण के अनुसार राम और

लक्ष्मण को अयोध्या से चौदह वर्ष का वनवास । रामायण में सीता के विवाह के लिए स्वयंवर किया गया है, वहा हैलेन के लिए। रामायण में सीता का जन्म खेत जोतते समय होता है वहा हैलेन का जन्म भी इसी प्रकार होता है । राम सीता से विवाह स्वयवर मे सब प्रतिद्वदियों को हराकर करता है। उसी प्रकार मनेलास हेलेन से विवाह स्वयंवर में प्रतिद्वदियों को हराकर करता है। रावण जब सीता का हरण करता है तो सीता अकेली होती है, उसी प्रकार पेरिस जब हेलेन का हरण करता है हेलेन अकेली होती है। पेरिस हेलेन को जबरदस्ती उड़ाकर ट्राय ले जाता है, रावण सीता को उड़ाकर लंका ले जाता है । लंका की तरह ट्राय भी एक छोटा सा द्वीप है । हेक्टर के तीर भी रावण के तीरों की तरह तरकस में वापस लौट आते हैं । हनुमान् लंका में आग लगाकर रावण की सेना को भयभीत करता है, तथा वहा एचिलिज ट्राजन की सेना को आग लगाकर भयभीत करता है ।

आरम्भिक 'युद्ध में राम अयोध्या वापिस लौटने की बात सोचता है, वहा मेनेलास भी आरागों लौटने की बात सोचता है । रावण, मन्दोदरी और विभीषण की तरह होमर की इलियाड में अन्तेनर, जायस और आन्दोमाच मौजूद है । लंका मे विभीषण एक विद्वान और समझदार व्यक्ति माना जाता रहा है । अन्तेतर का ट्राय में भी वही स्थान है । रावण जब हनुमान को मारने दौड़ता है तो विभीषण उसकी सहायता करता है । उसी प्रकार मेनेलास और औडेसन जब ट्राय में आते हैं और उनमें अन्तर्विरोध उत्पन्न हो

जाता है तो अन्तेतर उसकी ही सहायता करता है। मन्दोदरी रावण को सीता को छोड़ देने की सलाह देती है। अन्तेतर पेरिस में हेलेन को छोड़ देने को कहता है। जिस प्रकार विभीषण रावण की सहायता करता है उसी तरह मेनेलास अपनी विरोधी सेना की मदद करता है। रावण की मृत्यु के बाद विभीषण लंका की राजगद्दी पर बैठता है उसी प्रकार के अन्तेतर ट्राय का राजा बनता है।

रावण के आसुरीवाद की तरह जायस का अपना आसुरीवाद है। इन्द्रजीत की तुलना हेक्टर से की जा सकती है। रावण के मरने पर मन्दोदरी दुखदायी रोदन करती है। पेरिस के मरने पर आन्देमाच करुण रोदन करती है। सीता की तरह हेलेन भी राक्षसियों के बीच रहती है। ताड़का की तुलना ओडेसी की स्केल से की जा सकती है। रामायण का दानू राक्षस साईक्लोप ही है। राक्षस दानू जिस प्रकार राम और लक्ष्मण को निगलने का प्रयास करता है उसी प्रकार युलाईसस साइक्लोप की आँखें फोड़ देता है।

रावण की तुलना हाईड्रा से की जा सकती है। रावण का सिर कटने पर जिस तरह दूसरा सिर आ जाता है उसी तरह हाईड्रा का सिर कटने पर भी दूसरा सिर आ जाता है। इस आधार पर निम्नलिखित पात्रों की तुलना समीचीन जंचती है —

सीता=हेलेन, राम=मेनेलास, अयोध्या=स्पार्टा, लंका=ट्राय, सुग्रीव=आगामेमनन, लक्ष्मण=पत्रोक्लूस, जामवन्त=नेस्तर

यदि यहा प्रोफेसर लेसन, प्रोफेसर वेवर, श्री केलवुर्क, प्रोफेसर जेकोवी और मुशिए फाश की तरह प्रश्न को न भी उठाएं कि होमर ने वाल्मीकि की नकल की है या वाल्मीकि ने होमर की तव भी यह कहा जा सकता है कि लिखित इतिहास के आरम्भ होने के वहुत पहले जव विज्ञान प्राकृत-धर्म की सामा को पार नहीं कर पाया था, जव 'अक्षर' (वैदिक अर्थों मे) का सृजन नहीं हो पाया था, जव मानव सभ्यता ने यायावरी जीवन से छुटकारा पाकर स्थाईत्व प्राप्त कर लिया था, और जव एशियाई मानव मध्य एशिया से दक्षिण की ओर अग्रसर होने लगा था तव कहीं यह घटना अवश्य घटी होगी और इधर उधर घूमने वाली सभ्यता ने उस घटना को स्मृतियों के रूप में लोक-वार्त्ता के वतौर शताब्दियों तक वनाये रखा होगा। लेकिन देश काल में इस घटना का अनुरंजित रूप वनता गया और अलग-अलग सभ्यताओं मे उनकी अपनी भाषा और सामाजिक परिस्थितियों के कारण भिन्न रूप वनता गया। वार्त्ताएं मौखिक आवर्तन के आधार पर चलती रहीं और जव भाषा ने लिपिवद्ध रूप लिया तो इन वार्त्ताओं ने महाकाव्यों का रूप ले लिया। रामायण और इलियाड इसी लोक-मानस की अभिव्यक्ति हैं। ये वार्त्ताएं आरम्भ से ही सास्कृतिक-ढाचों के माध्यम से जिन्दा रही हैं तथा जव वे महा-काव्य के रूप में परिवर्तित हुई तव भी उनका सम्वन्ध सास्कृतिक-ढाचों के साथ अवयवी रूप से वना रहा है।

इस घटना के सम्वन्ध मे जिसने भारत मे दीपावली का रूप लिया है और यूनान मे ट्राजन युद्ध का ऐसा निश्चित रूप से कहा

जा सकता है कि यह घटना न तो यूनान में घटी है और न भारतवर्ष में। यह घटना सम्भवतः सुमेरियन सभ्यता के समय कहीं न कहीं घटित हुई है।

लेकिन इतने युगों बाद जब इस घटना की प्रतिध्वनि महा-काव्यों और सांस्कृतिक-ढाचों से जिन्दा मिलती है, तब दीपावली में लोक-सार की गहराई से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह गहराई महा-काव्य, पुराण-कथाओं और सांस्कृतिक-ढाचों के माध्यम से अपना रूप परिवर्तन करते हुए जिन्दा रही है। एक ही महाकाव्य जब दूसरे युग में दूसरी भाषा मे लिखा जाता है तब उसके नायकों के चरित्रों में परिवर्तन आना आवश्यक हो जाता है। वाल्मीकि कृत रामायण इस अर्थ में तुलसीकृत रामायण से भिन्न है। तुलसीदास की रामायण मे नाम-रूपता को अधिक महत्व मिला है और राम की तुलना में हनुमान को अधिक महत्व मिला है। अन्य रामायणों मे भी यही बात झलकती है। जिस व्यापकता से रामायण का सामाजिक व नृवैज्ञानिक विश्लेषण ऊपर किया गया है उतना व्यापक विश्लेषण दुर्गा पूजा का शायद नहीं किया जा सकेगा। लेकिन आदिम-मानव की दुर्गा माँ की शक्ति के रूप में कल्पना थोथी कल्पना नहीं कही जा सकती। इस कल्पना मे लोक-सार की मात्रा अधिक थी और है। इस कल्पना में ओत-प्रोत लोक-सार नर-नारायण के भाव से अनुरंजित रहा है। इसी कारण उसे साकार स्थूल सामाजिक रूप प्राप्त हो सका है।

दीपावली, दुर्गापूजा, होली व अन्य त्यौहार मानव-समाज में इसलिए जिन्दा रह सके हैं कि उनमे लोक-सार का तत्व गहन मात्रा में विद्यमान रहा है और धर्म का पुट निम्न मात्रा मे। धर्म के इस विभेद को अंतिम अध्याय मे लिया गया है।

★

अध्याय आठ

★

लोक-साहित्य के अनेक रूप

मानव-समाज में लोक-साहित्य अनेक रूपों और स्वरूपों मे पाया जाता है। लोक-साहित्य के ये रूप हैं : लोक-गीत, लोक-कथा, लोक-वार्ता, लोक-विश्वास, लोक-परम्पराएं और लोक-तरीके। लोक-साहित्य के ये अनेक रूप मानव-समाज के अनेक सास्कृतिक-ढाचों से जुड़े मिलते हैं। एक तरह से लोक-साहित्य के ये अनेक रूप मानव-समाज मे व्याप्त सास्कृतिक-ढाचो की भिन्नता के कारण मिलते हैं। मानव-समाज मे सास्कृतिक-ढाचो की भाव-भूमि सस्कृति के अपने दिक्कालात्मक शरीर से ही निर्धारित होती है। यदि मानव-समाज का कतिपय सास्कृतिक-ढाचा लोक-कथा की माग करता है तो उनमे लोक-गीतो के जुड़ने की वात ही नही उठती।

लोक-साहित्य के अनेक-रूपो सम्बन्धी उपरोक्त स्थापना इन दोनो लोक-साहित्य के रूपो और सास्कृतिक-ढाचो पर लागू होती है जो या तो व्यक्ति और परिवार के चारो ओर अपने भवन का निर्माण करते हैं या सामाजिक प्रयोजन को लेकर उद्भासित होते हैं।

प्राय. देखा गया है कि मानव-समाज के सास्कृतिक-ढाचों की तुलना में लोक-साहित्य के अनेक रूपो की आयु कम होती है। समाज के सास्कृतिक-ढाचों के समाप्त हो जाने के वाद भी लोक-साहित्य के अनेक रूप लिपि-वद्ध होकर साहित्य-अवस्था को प्राप्त होकर जिन्दा रहते हैं, लेकिन तव उनमें लोक-सार का अवयवी सम्वन्ध नहीं होता। इस वात को और वारीकी से समझाया जा सकता है।

लोक-गीत की ही वात लीजिए। प्राचीन अर्वाचीन समाज में पाए जाने वाले लोक-गीतों के अध्ययन से पता चला है कि सास्कृतिक परिवर्तन के कारण कालान्तर में एक लोक-गीत का स्थान दूसरा लोक-गीत ले लेता है। ऐसा केवल तव होता है जव समाज के गर्भ मे नई संस्कृति के वीज धारणाओं के रूप में पड़ने लगते है। नई सस्कृति के इस वीजारोपण का पता लोक-गीतों के इस प्रकार के स्थानान्तरण से लगता है। नई संस्कृति के वीज समाज में पड़ते हैं लेकिन उनका प्रभाव सास्कृतिक-ढाचो पर वहुत लम्वे अर्से में पड़ता है। अतः समाज मे सास्कृतिक-ढाचों का सापेक्ष स्थाईत्व लम्वे अर्से तक रहता है और लोक-गीतो का कम।

लोक-गीतों मे ऐसा परिवर्तन दो तरह से आता है। एक तो प्रचलित लोक-गीत की संगीत और स्वर लहरी की रूपात्मकता के आधार पर और दूसरे प्रचलित लोक-गीतो की लोक-भावना के आधार पर। पहले स्वर लहरी और सगीत को माध्यम वनाकर लोक-गीतो मे परिवर्तन आता है। यह परिवर्तन नई सामाजिक परिस्थितियों की

पृष्ठ-भूमि में सम्पन्न होता है।

इस तरह जब लोक-गीतो मे परिवर्तन होने लगता है तो सबसे पहले उन गीतों की पर्व-वृति, समारोहात्मकता और 'मागलिकता' को ठेस पहुँचती है जो अब तक प्रचलित लोक-गीतों और सास्कृतिक-ढाचों के परस्पर अवयवी सम्बन्ध को बनाए रखने का काम करती थी। मागलिकता के प्रति जो प्राचीन-पन लोगों में व्याप्त होता है, उनमें ढिलाई आने लगती है। इस तरह धीरे-धीरे लोक-गीत सास्कृतिक-ढाचों रूपी टहनियों से पेड़ के पत्तों की तरह झड़ने लगते हैं। लोक-गीतों के परिवर्तन का यह अबाध क्रम चलता रहता है। एक समय ऐसा आ जाता है जब लोगों के प्रति आस्था के हटने का क्रम लोक-गीतों तक ही सीमित न रह कर वह सास्कृतिक-ढाचों तक आ जाता है। तब सास्कृतिक-ढाचों को बदलने का क्रम चालू हो जाता है। वे ढहने लगते हैं। उनमें से लोक-सार और लोक प्रतिष्ठा विलुप्त हो जाती है। ऐसा नई संस्कृति के विचारों के बोझ और नई सामाजिक-परिस्थितियों के दबाव के कारण होता है।

लेकिन मानव समाज में प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि वे सास्कृतिक-ढाचें जिनमें लोक-सार की गहनता होती है अपने को नई संस्कृति के अनुरूप बनाने का प्रयास करते रहते हैं। इस क्रम में लोक-गीतो का परिवर्तन बहुत ही तीव्र गति से होता है। वे सास्कृतिक-ढाचा और वे लोक-गीत जो उसमें जुड़ने लगते हैं परिवर्तित सामाजिक परिस्थिति के बावजूद अपने सापेक्ष स्थाईत्व बनाए रखने में सफल होते हैं।

सांस्कृतिक-ढाचों और लोक-गीतों के परिवर्तन की यह गत्यात्मकता लोक-साहित्य के अन्य रूपों पर भी लागू होती है। संस्कृति का दायरा इसी तरह विस्तृत और व्यापक होता है। मानव-संस्कृति के आरंभ में जो प्राकृत-धर्म और जादू का प्रभाव था वह नए अनुभवों के आधार पर उच्च स्तर प्राप्त कर लेता है। आदिम-मानव में नर-नारायण का जो भाव था वह उद्भासित होकर व्यक्ति की वास्तविक भाव-भंगिमा के आधार पर प्रसरित होने लगता है। मनुष्य की अपनी स्व-रति उसको इस ओर बाध्य करती रहती है। लोक-साहित्य का यही अद्स (Id) और यही सामाजिक-अह है। लोक-साहित्य के इस अद्स और सामाजिक-अह में परस्पर टक्कर होती रहती है।

समाज में दोनों प्रकार के परिवर्तनों में लोक-गीतों का अंकुर क्रमिक रूप से प्रस्फुटित होता रहता है। लोक-गीतों और लोक-साहित्य के अन्य रूपों में यह आवर्त्तन मन चाहे तौर तरीकों पर नहीं होता। उनका विन्यास कतिपय सामाजिक प्रयोजनों को लेकर होता है। उस प्रयोजन की सीमाएं हर युग में निश्चित और बाधित रहती हैं। लेकिन ज्ञान के विकास के साथ संस्कृति में नए अनुभवों को जोड़ने की क्षमता आ जाती है। जन्म, मरण, विवाह और मृत्यु के चारों ओर जो लोकात्मकता का प्रभा-मण्डल बना रहता है वह समयान्तर में बदल जाता है।

लोक-गीत क्योंकि वे गाए जाते हैं उनमें एक प्रकार का संगीत जुड़ा रहता है। अलग अलग अवसरों पर गाए जाने वाले

लोक-गीतों की स्वर-लहरिया विशिष्ट आयोजनों के साथ जुड़ जाती हैं। कभी-कभी वे वर्ग विशेष से जुड़ जाती हैं। विभाजित मानवता के इस भिन्नता के बावजूद समाज में संस्कृति की एकात्मकता बनी रहती है। लोक-गीतों की ये सब लहरिया इतनी धीरे और धीमर गति से बदलती हैं कि उनके गुणात्मक और परिमाणात्मक परिवर्तन का भाव कई दशकों बाद ही स्पष्ट होता है।

एक उदाहरण देकर उक्त बात को स्पष्ट किया जा सकता है। राजस्थान में होली के त्यौहार पर गावों में जो लोक-गीत गाए जाते हैं उनको 'धमाल' के आधार पर गाया जाता है। लेकिन 'धमाल' का जो रूप जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर क्षेत्रों में परिव्याप्त मिलता है 'धमाल' का वह रूप जयपुर, सवाई-माधोपुर, उदयपुर क्षेत्रों में नहीं मिलता। 'धमाल' की स्वर लहरी में भिन्नता आ गयी मिलती है। इस आवर्तन परिवर्तन का अध्ययन किया जाना चाहिए। हर लोकगीत विशेष की यह अपनी बात होती है।

ऊपर जो बात हमने लोकगीतों के बारे में कहीं हैं, सामान्य तौर पर वह बात लोक-साहित्य के अन्य रूपों पर भी लागू होती है।

लोक-कथा की बात लीजिए। लोक-कथाएं साधरणतया उपवास और स्त्रियों से सम्बन्धित सास्कृतिक-ढाचों से आज भी जुड़ी मिलती हैं। सामाजिक रूप से कई लोक-कथाएं पुराण-कथाओं के रूप में सामाजिक सास्कृतिक-ढाचों से जुड़ी मिलती हैं। स्त्रिया साधारणतया कार्तिक के स्नान के उपरान्त या ग्यारस के उपवास के बाद

लोक-कथा के अतिरिक्त हमें लोक-साहित्य के संदर्भ में लोक-वार्ता, लोक-विश्वास, लोक-तरीके और लोक-परम्पराएं मिलती हैं। फ्रेजर महोदय ने अपनी पुस्तक 'द गोल्डन वो' में लोक-वार्त्ता, लोक विश्वास, लोक-तरीकों और लोक परम्पराओं का सागोपाग अध्ययन किया है। उस अध्ययन से उन्होंने हमारी उपरोक्त स्थापना की ही पुष्टि की है। भारतवर्ष में अभी लोक-वार्त्ता, लोक-विश्वास, लोक-तरीकों और लोक-परम्पराओं का मानव-शास्त्रीय नृ-वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया है। यदि इस दृष्टि से लोक-साहित्य के अनेक रूपों का अध्ययन उनके विशेष इतिहास को लेकर किया गया तो कई आधुनिक विश्वास लोगों के हृदय मे जो घर कर गए वे एकदम बालू मे बने पद-चिन्हों की तरह मिट जाएंगे, ऐसी हमारी धारणा है।

लोक-साहित्य के अनेक रूपों का जो अध्ययन पाश्चात्य मानव-शास्त्रियों ने किया है उसके आधार पर यह आसानी से कहा जा सकता है कि लोक-वार्ता, लोक-विश्वास, लोक-तरीके और लोक-परम्पराओं की सामाजिक गत्यात्मकता भी यही रहती है। लोक-कथा की तरह लोक-वार्ता, लोक-विश्वास, लोक-तरीके, लोक-परम्पराएं भी समाज के सास्कृतिक-ढाचो के साथ अवयवी रूप से जुड़े मिलते हैं। आज समय के परिवर्तन के साथ ये लोक-वार्ताएं, लोक-विश्वास, लोक-तरीके और लोक-परम्पराएं साहित्य विशेष बन गए हैं। लोक-साहित्य के सदर्भ मे आने वाले विभिन्न रूपा का इस कारण जब साहित्य के माध्यम से अध्ययन किया जाए तो उसमें बड़ी सतर्कता

का ध्यान रखा जाना चाहिए । विचारों की आदिम गत्यात्मकता को ही ऐसे साहित्य का आधार बना कर उसे 'लोक' विशेषण से अभिहित करना चाहिए ।

★

अध्याय नौ

★

आदिम विचारों का इतिहास

किसी भी देश में निवास करने वाली सभ्यता के आदिम-विचारों के इतिहास को क्रमिक रूप से प्रतिपादित करना अपने में एक अनुसन्धान का विषय है। क्योंकि किसी भी देश और काल में विकसित होने वाली सभ्यता की अपनी निजी लीकें और परम्पराएँ होती हैं जो आदिम विचारों की गत्यात्मकता की साधारणीकरणता को निभाते हुए प्रसरित होती रहती है। इस अध्याय में हमारा प्रयोजन किसी सभ्यता विशेष के विचारों के विकास और उत्पत्ति को दर्शाना नहीं है जितना कि प्राग-ऐतिहासिक विचारों की साधारण गत्यात्मकता को समझाना। ऐसा करने में हमारा प्रयोजन लोक-साहित्य की साधारण भाव-भूमि को समझाना है।

मानव-जाति के आदिम-काल पर इस माने में दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि अन्य तथ्यों के अलावा आदिम विचारों की गत्यात्मकता का नियामक उस समय के लोगों का जगत के प्रति-दृष्टिकोण (Waltanschauung), उनकी मानसिक योग्यता, मनुष्य

में चीजों को सचालित करने वाली कार्य-कारणों की उनकी समझ और समाज और जीवन के प्रति उनके द्वारा अपनाए गए सिद्धांतों से निर्धारित होती है। लेकिन आदिम-मानव में यह निर्धारण केवल मनो-वेगात्मक रहता है।

मानव के इस प्रयास को मनोवेगात्मक इसलिए कहा है कि उन विचारों का अर्थ आदिम मानव को स्पष्ट नहीं था। भूख लगने पर जैसे भोजन की बात स्वतः दिमाग में आ जाती है वैसी ही स्थिति उन आदिम-विचारों की थी। इन्द्र-देव, अग्नि देवता आदि की कल्पना ऐसी ही कल्पना थी। आदिम-मानव के देवता, आत्मा और कन्य विश्वासों को उसी संकीर्ण अर्थों में समझना होगा।

मनुष्य इस अवस्था में प्राकृतिक तथा पराप्रकृति का भेद नहीं कर पाया था। उसके लिए एक बड़ी सीमा तक विषय का संचालन परा-प्राकृतिक प्रतिनिधियों द्वारा होता था अर्थात् उन व्यक्ति-धारी प्राणियों द्वारा जो उनके अपने जैसे मनोवेगों तथा प्रेरणाओं वश कार्य करते हैं, जो उनकी पुकार पर उनकी भाति करुणा से ही द्रवित होते हैं तथा उनकी जैसी आशाओं और आकान्ताओं से स्पंदित। इस तरह उसे अपने उद्भासित विषय में उसे अपने हितार्थ प्रकृति की गति को अपनी शक्ति से प्रभावित करने की सीमा नहीं दीखती।

यही कारण है कि आदिम-मानव के विचारों में ईश्वर की धारणा नहीं मिलती। इस सम्बन्ध मे श्री लुब्बक अपनी पुस्तक 'सभ्यता का विकास' में लिखते हैं, 'अनिश्वरवाद आदिम विचारों की मूल बात थी। अनिश्वरवाद का अर्थ ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार

करना नहीं है जितना कि ईश्वर सम्बन्धी निश्चित विचारों का अभाव'। श्री लुब्बक इस सम्बन्ध में आगे लिखते हैं, "निम्न स्तर की जातियों में धर्म नहीं पाया जाता। जिसे पहले उन्होंने धर्म कहा वह आज के धर्म से भिन्न था। वह धर्म एहिक और इस जगत से सम्बन्धित था, परलोक से नहीं। यही कारण है कि प्राचीन धर्म के देवता मरण-धर्मा है, अमर नहीं, प्रकृति के अ ग हैं, नियंता नहीं—ऊँच जातियों में आज जो शब्द पार-लौकिक शक्ति के लिए उद्धृत हुए हैं, वैसा पारिभाषिक अर्थ उस समय प्रयुक्त हुए अर्थों से नहीं लगाया जा सकता।"

आदिम-मानव ने प्रकृति में देवताओं की परिकल्पना पहले की और बाद में धूप नैवेद्य चढाने की वात की। इसी का दूसरा रूप जादू में मिलता है। जिन गतव्यों को धूप नैवेद्य चढाकर प्राप्त किया जा सकता है उन्हीं गंतव्यों को जादू के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है। धर्म और जादू की इस समानता के आधार पर ही धर्म और जादू में पहले कौन सी वात को मानव-शास्त्रियों ने स्थापित किया है इस सम्बन्ध मे फ्रेजर महोदय लिखते हैं —

"जादू की उत्पत्ति धर्म के पहले हुई है। मनुष्य ने प्रकृति को मनोच्चार के आधार पर अपनी इच्छा का अनुगामी वनाना चाहा था। देवता को धूप नैवेद्य चढाकर प्रसन्न करने की भावना वाद की उपज है। आदिम-मानव यह विश्वास करता है कि कार्य-कारण के वीच कोई आध्यामिक-सत्ता काम नहीं करती। अतः उसका विश्वास

आज के विज्ञान के तुल्य है—प्रकृति की नियमिति में आस्था। जादूगर इस बात मे सन्देह नहीं करते कि एक से कार्य एक से कारण उत्पन्न करेंगे। *

लेकिन मानव-विकास के बहुत बाद मे जादू ने प्राकृत-धर्म को प्रजनित होने दिया। जादू में कार्य-कारण शृंखला को स्पष्ट रूप से मूल दिया गया है और प्राकृत-धर्म में अन्तर्निहित और परोक्ष रूप से। आदिम-मानव का विश्वास था कि मनुष्य द्वारा चीजों के कार्य-कारण सम्बन्धों को जान लेने पर प्रकृति पर विजय पाई जा सकती है। इसी विश्वास का नामकरण आदिम-मानव ने जादू टोना

---

* 'Magic rose before religion in the evolution of our race and man essayed to bend nature to his wishes by the sheer force of spells and enchantments before he strove to coax and mollify a coy, capricious or irascible deity by soft insinuation of prayer and sacrifice It (magic) assumes that in nature one event follows another necessarily and invariably without intervention of any spiritual or personal agency Thus, its fundamental conception is identical with that of modern science, underlying the whole system is a faith, implicit but real and firm, in the order and uniformity of nature The magician does not doubt that the same causes will always produce the same effects "

'Frazer—The Golded Bough

कह कर किया। लेकिन धीरे-धीरे बाद में जादू और प्राकृत-धर्म मे परस्पर भिन्नता आने लगी। जादू में दो साधारण विचार-नियमों—समानता का नियम और सम्पर्क का नियम, के आधार पर अनेक देवी देवताओ की कल्पना की गई है, इन्हीं नियमों के आधार पर आदिम-मानव ने प्राकृतिक-घटनाओं या प्रतीयमान-विश्व (Phenomenon) के आधार पर जादू-टोने की धारणाओं को छोड़ देवी देवताओ की कल्पना करनी आरम्भ करदी। प्राकृत-धर्म में इन देवी देवताओं की कल्पना पारलौकिक और अमर-व्यक्ति की न होकर प्रकृति के एक अङ्ग के रूप मे हुई है। यह स्थापना मानव-शास्त्रियो को सर्वमान्य है।

लेकिन कुछ ऐसे मानव-शास्त्री भी हैं जो यह मानते हैं कि आदिम-मानव मे जो आत्मावाद मिलता है वह स्वत. अध्यात्मिक-शक्तियों मे विश्वास करा देता है। उनका अभिमत है कि आत्मावाद की कल्पना आदिम-मानव ने जादू की कल्पना के पहले की थी। उनका आगे कहना है कि ऐसा इसलिए है कि आत्मावाद से ही धर्म की उत्पत्ति हुई है। साधारणतः लोग आत्मा (animus) शब्द को लेकर अपनी इस स्थापना को प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि आत्मा की धारणा जागल-मानव ने इस प्रकार धर्म और आध्यात्मिकता का पुट देकर की थी। उनका मानना है कि धर्म मे जो आत्मा के अमरत्व की धारणा की गयी है उसका उद्गम आत्मावाद मे है। धर्म के पहले आत्मावाद और आत्मावाद के पहले जादू वाली बात इनको मान्य नहीं।

इस तरह पहले क्या ? आत्मावाद या जादू ? यह प्रश्न मानव-विज्ञान के लिए बहुत महत्व का है। उसका अन्य महत्व चाहे कुछ भी न हो।

यह सही है कि आत्मा की धारणा आत्मावाद मे व्यवहृत हुई है और इस अर्थ मे धर्म का उद्गम आत्मावाद मे ढूंढा जा सकता है। लेकिन आत्मावाद मे प्रकृति की क्रिया और प्रतिक्रिया की प्रयोजनात्मकता पर जोर दिया गया है। आत्मावाद में आत्मा शरीर से कोई अलग थलग चीज नहीं है। वहा वह वाष्प जैसा पदार्थ माना गया है।

हमारी उपरोक्त धारणा की पुष्टि भाषा-विज्ञान मे होती है। समूची प्राचीन भाषाओं मे हिब्रू, संस्कृत ग्रीक, रोमन, स्लावेनोक और अरबी में (anmu… आत्मा का अर्थ श्वास है और श्वास शरीर की क्रिया है। आ… में आत्मा की धारणा शरीर में विस्थापित है। इस सम्बन्ध में श्री कारवेथ रीड का कहना है कि "पदार्थ (आत्मा) को मानव… जीय-चेतना का गुण मानना एक चीज है और उसे चेतना जैसा पदार्थ कहना दूसरी बात है जो मनुष्य के मरने पर भी जिन्दा रहती है या स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में रह सकती है। मानव-आत्मा के लिए यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह मृत्यु के बाद भी दूसरी योनी धारण करेगी, कम से कम जानवर की तो नहीं।" *

---

* "*It is one thing to regard an object as having* anthropological consciousness, and another to believe that consciousness is a distinct property capable of

आत्मा (animus) शब्द का अर्थ है श्वास । आत्मावाद मे आत्मा की धारणा स्पष्ट रूप से प्राणी-शास्त्रीय धारणा है । उसकी कल्पना किसी विश्वास को लेकर नहीं की गयी थी। वह कल्पना अनुभव जनित थी । इस सम्बन्ध में एक अन्य मानव-शास्त्रवेत्ता श्री ई० वी० टेलर अपनी पुस्तक 'प्राचीन-सस्कृति' में लिखता है ''आदिम मानव की आत्मा सम्बन्धी धारणा प्राणी-शास्त्रीय है ।' बात आत्मा के कल्पना तक ही सीमित नही है । आत्मावाद में देवताओं की जो कल्पना की गयी है वह भी पार-लौकिक नहीं है । यदि आत्मावाद मे देवताओं की कल्पना पार-लौकिक होती तो वर्षा, आधी, तारों की गति आदि को लेकर जो अलग-अलग देवताओं की कल्पना की गयी है उसकी आवश्यकता ही न थी । वैसे भी इन अनेक कल्पनाओं को स्थापित करने का मूल कारण आदिम-विचारो में असत से सत्त की उपज नही हो सकती का विश्वास है । यह विश्वास इतना मूल था कि प्रकृति के हर प्रतीयमान विश्य का कोई न कोई अलग कारण ढू ढा गया है । आदिम-विचारो मे देवता का स्थान एक बड़े भारी जादूगर के समान है । वह प्रकृति को मन चाहे रूप से संचालित कर सकता है । आदिम-युग मे जादूगर वे ही लोग कहलाते थे जिनको प्रकृति के नियमों का ज्ञान होता था । उसी ज्ञान के कारण

---

quitting it or of serviving its destruction or of existing independently The human spirit is not necessarily believed to enter upon a life after death, still less is the spirit of the animal."

(Man & His Superstitions—Carveth Read)

उनको देवत्व प्राप्त था। अतः आत्मावाद का और धर्म का कितना ही विश्लेषण क्यो न किया जाय हम एक से नतीजे पर पहुचते हैं कि जादू धर्म के पहले की चीज है। जादू ने धर्म को क्यों प्रजनित किया इस पर प्रकाश डालते हुए श्री फ्रेजर लिखते हैं—

* "मनुष्य ने पहली वार अपनी अयोग्यता का मान किया

---

* Man for the first time recognised their inability to manipulate at pleasure certain natural forces which hitherto they had believed to be completely within their control It was a confession of human ignorance and weakness. Man saw that he had taken for causes what were no causes, and that all his efforts to work by means of their imaginary causes had been vain His pain too had been wasted, his curious ingenuity had been squandered to no purposes He had been putting at strings to which nothing was attached, he had been watching as he thought, straight to the goal, whole in reality he had only been treading a narrow circle. Not that the efforts which he had striven so hard to produce did not continue to manifest themselves They were still produced, but not by him The rain still fell on the thirsty ground, the sun still pursued daily, and the moon her nightly journey across the sky, the silent procession of seasons still moved in light and shadow in cloud and sunshine

कि वे उन प्राकृतिक-घटनाओं का मन चाहे रूप से प्रस्थापन नहीं कर सकते जिनके बारे में उन्होंने अब तक विश्वास कर लिया था कि वे उन पर पूर्ण नियन्त्रण रख सकते हैं। यह मनुष्य के अज्ञानता और अक्षुण्णता की स्वीकृति थी। मनुष्य ने जाना कि उसने जिन कार्यों को कार्य समझा था वे कार्य नहीं थे और काल्पनिक कार्यों के आधार पर किए गए उसके सारे कार्य व्यर्थ थे। उसने जितने कष्ट झेले वे बेकार गए और उसकी सारी जिज्ञासा अनचीती रही। वे केवल उन धागों को पकड़े रहा जिसका दूसरा छोर खाली था। उसने सोचा वह निश्चित गंतव्य की ओर बढ़ रहा है, वास्तव में एक भवर म फंसा था। बात यह नहीं थी कि उसने जो कठिन प्रयास किया था उसका कोई असर नहीं हुआ। उसका असर अभी भी पड़ता था, लेकिन वह असर उसके प्रयासों का नतीजा नहीं था।

"सूखी भूमि पर अभी भी बारिस होती थी, सूर्य अभी भी परिभ्रमाण करता था, और चन्द्रमा निशीथ में उगता था, ऋतु-चक्र अभी भी पहले की तरह बादलो में पृथ्वी के चारो ओर घूमता था,

---

across the earth, the men were still born to labour and sorrow, and still after a brief sojourn here, were gathered to their fathers in the long here after All things induced went as before, yet all seemed indifferent to him from whose eyes the old scales had fallen For he could no longer cherish the pleasing illusion it was he who guided the earth and the heaven in their courses, and that they would cease to perform their great

मनुष्य अब भी सुख दुख झेलने और श्रम करने को पैदा होता था, उस भूमि पर जहा उसके पुरखे कभी विचरे थे। घटनाएं अब भी उसी रूप मे होती थीं लेकिन वह उसे अब एकदम नए आकार-बिन्दुओं मे दृष्टिगत हो रही थी क्योंकि उसकी पुरानी मान्यताएं टूट चुकी थी। अब मनुष्य इस भ्रामक प्रभा-मण्डल में विश्वास नहीं कर सका कि वह पृथ्वी और विश्व का सचालन कर सकता है और यदि मनुष्य इन सब चीजों से अपना सहयोगी हाथ हटा ले तो प्रकृति काम करना बन्द कर देगी। उसके प्रिय-जनों और दुश्मनों की मृत्यु में उसने अपने को शक्तिशाली नहीं पाया, अब वह समझने लग गया कि उसके प्रिय-जन और दुश्मन एक ऐसी ताकत के सामने झुक जाते हैं और सब एक निश्चित गतव्य की ओर हठात् खिंचे चले जा रहे हैं।

"अतः अपनी संकीर्ण-विरासत मे नाता टूट जाने पर वह अनिश्चितता और संदेह के समुद्र में गोते खाने लगा, उसका अपने में विश्वास खो गया। यह आदिम-दार्शनिक झुंझलाया होगा और हत-प्रतिभ हो गया होगा। उसने एक ऐसे विश्वास को प्रजनित

revolution were be to take his feeble hand from the wheel In the death of his enemies and his friends he no longer saw a proof of the resistless potency of his own or of hostile enchantments; he known that friends and foes alike had succumbed to a force stronger than any that he could wield, and in obedience to a destiny which he was powerless to control

किया जो उसकी-सारी । मझा। I. । प्रत्युत्तर देता हो, कि वह अभी भी उस प्रकृति का नियंता हो सकता है जिसे वह छोड चुका है। यदि लौकिक-जगत उसके या उसके सहचरो के बिना भी चल सकता है तो मनुष्य-की सी अन्य और शक्तिया भी होनी चाहिए जो उसमे बलशाली है और जगत की नियंता हैं जिनके सचालन का प्रयास उसने जादू मे विश्वास करके माना था । फ्रेजर की इस स्थापना को और बारीकी से समझा जाय तो अच्छा होगा। *

आदिम-विचारों मे हमें परा-प्रकृति की असीम शक्तियो की कल्पना इतनी बद्धमूल मिलती है कि आदिम-जीवन के हर क्रिया-कलापों मे उसकी झलक मिलती है ।

'यही वह मार्ग है जिसमे नर-नारायण (man god), का भाव-प्राप्त होता है लेकिन इन सब पर जादू और धर्म की आदिम धारणाओं का प्रभाव मिलता है । अत यदि हम विचारो के उन सिद्धान्तों का विश्लेपण करें तो हमें दो नियम मिलते हैं एक तो सामानता का नियम और दूसरे सम्पर्क का नियम (The Law of Association and the Law of Contact) ।

Thus cut adrift from his ancient moorings and left to toss on a troubled sea of doubt and uncertainty, his old happy confidence in himself and his powers rudely shaken, our primitive philosopher must have been perplexed and agitated till he came to rest, as in a quite heaven after a tempestuous voyage, in a new system of faith and practice, which seemed to offer a

समानता के नियम का आधार है एक सी चीजें एक सी चीजें उत्पन्न करती हैं। दूसरे शब्दों में कार्य व कारण किन्हीं दो चीजों में एक दूसरे के समरूप होते हैं। सम्पर्क के नियम के अनुसार जो चीजें कभी परस्पर सम्पर्क में रही थीं उनके परस्पर दूर हटने पर भी वे एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। समानता के नियमों के आधार पर आदिम-मानव यह मानता रहा है कि वे किसी चीज को प्रभावित कर सकते हैं। सम्पर्क में आई चीज के साथ जो व्यवहार किया जायगा उसी प्रकार की प्रतिक्रिया उन चीजों पर भी हो सकती है जो उन चीजों के कभी सम्पर्क में थीं।

समानता के नियम पर आधारित जादू को अनुकरणात्मक टोना कहा जा सकता है। सम्पर्क के नियम के आधार पर आधारित जादू को सहानुभूति टोना कहा जा सकता है। जादूगर या यान्त्रिक इन नियमों में इसलिए विश्वास करता था कि वे मानते थे कि जड़-

---

solution of his harassing doubts and substitute, however, precarious for that sovereignty over nature which he had reluctantly abdiated If the great world went on its way without the help of him or his fellows, it must surely be bacause there were other beings, like himself, but far stronger, who, unseen themselves, directed its course and brought about all the varied series of events which he had hither to believed to be dependent on his own magic'

(Frazer—Magic and Religion)

प्रकृति भी इन्ही नियमों से सचालित होती है । आदिम-मानव की नियम-वद्ध भौतिक-प्रकृति की यही धारणा थी ।

इन विश्वासो के आधार पर आदिम-मानव यह मानता रहा है कि यदि किसी चीज का विशेष रूप से अनुकरण किया जाय तो वह अनुकरेण्य को उसी रूप मे प्रभावित करने को मजबूर कर देती है । अनुकरणात्मक टोना इसी आधार पर चलता है । किसी व्यक्ति का पुतला वनाकर उसे मारने का उद्योग इसी का परिणाम है । कहना होगा कि सहानुभूतिक टोने पर भी सम्पर्क के नियम का असर रहता है । परस्पर एक अनुलब्व सहानुभूति इन पदार्थों से हो जाती है । फलत यह आदिम-मानव में ऐसे विश्वासों को प्रजनित करती है कि बालक के दूध के दात टूटने पर फेंक देने चाहिए । इससे सूर्य जैसे चमकीले और चूहे जैसे नुकिले दात निकलेंगे । यह विश्वास भारत के अलावा संसार के लगभग सभी देशों में पाए जाते हैं ।

जादू के बारे में संक्षेप मे यही कहना होगा कि वह एक प्राकृतिक-नियमो का विकृत-सिद्धान्त है और व्यवहार के लिए हेत्वाभासपूर्ण इन आदि नियमो को यदि एक सैद्धान्तिक-पद्धति के रूप में लिया जाय तो कहना होगा कि घटनाओ की क्रमिकता निर्धारित करने वाले नियम हैं । इन्हें सैद्धान्तिक जादू भी कहा जा सकता है । इन नियमों के आधार पर आदिम-मानव जब अपने व्यवहार को सचालित करने लगता है तो ऐसे व्यवहार को मानव-शास्त्र वेत्ताओं ने व्यावहारिक जादू कहा है । इसलिए जहा तक जादू का

प्रश्न है आदिम-मानव केवल उसके व्यावहारिक पहलू की ओर ही ध्यान देता है, सिद्धान्त पर विशुद्ध रूप से विचार नहीं करता। जिस प्रकार आज के मानव को खाने के पचने के नियमों का ज्ञान न होते हुए भी उसके पेट में खाना पचता रहता है, और जिस प्रकार अनपढ़ व्यक्ति को भाषा के व्याकरण का ज्ञान न होते हुए भी वह भाषा बोल लेता है, उसी प्रकार आदिम-मानव जादू के सैद्धान्तिक पहलू को न जानते हुए भी उसका अनुकरण करता है। जादू उसके लिए कला मात्र रहता है। उस अवस्था मे वह विज्ञान की बात नहीं सोच सका था।

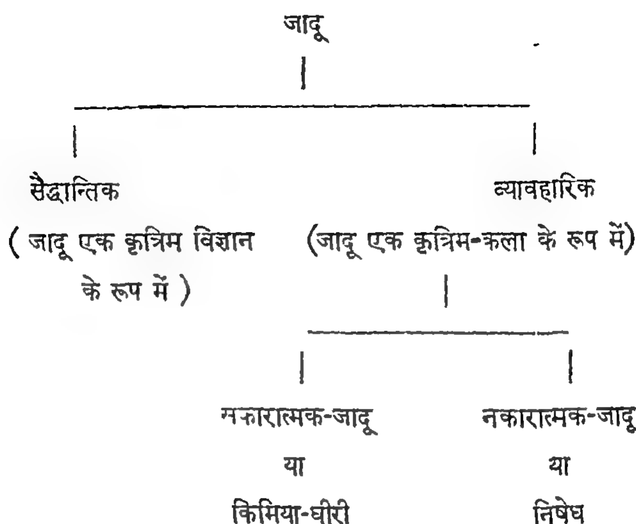
इन्हीं दो नियमों को यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो कहना होगा कि ये विचार नियम विचारों के संसर्ग का दूसरा नाम है। अनुकरणात्मक टोना इन्हीं नियमों के संसर्ग की समानता का अनुचित प्रयोग है और सहानुभूतिक-टोना विचारों के संसर्ग के सम्पर्क के नियम का अनुचित प्रयोग है। इसी को भिन्न रूप से इस प्रकार रखा जा सकता है।

सहानुभूतिक–टोना

|

समानता का नियम | सम्पर्क का नियम

यदि उपरोक्त जादू के नियमों को उसके सर्वांगीण रूप में देखा जाय तो उसे इस बारीकी के साथ रखा जा सकता है:—



अनुकरणात्मक टोने के आधार पर जिन विश्वासों और संस्कारों का प्रजनन हुआ है, उनके कुछ उदाहरण यहा दिए जा रहे हैं इस प्रकार के विश्वास और संस्कार मानव-जाति के आदिम-काल में भारत, बेबीलोन, मिस्र, ग्रीस, रोम, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, स्काटलैंड, मलाया, अमरीका आदि स्थानों में पाए जाते हैं ।

अनुकरणात्मक टोने का सबसे अच्छा और सुव्यवस्थित उदाहरण मध्य-आस्ट्रेलिया में मिलता है, जहा उनके कबीले उद्भिद-भाव (Totem) के अनुसार बंटे हैं । वहा के लोक-साहित्य और सास्कृतिक-ढाचो का आधार भी अनुकरणात्मक टोना है ।

वहा एक कबीला मुर्गा उद्भिद-भाव (Totem) से अनुप्राणित है, वह मुर्गे पालता है और मुर्गों के बारे में ही लोक-गीत

और लोक-साहित्य तैयार करता है । जीवन के संस्कार भी इसी भाव से ओत-प्रोत हैं ।

आस्ट्रेलिया के आदिम-विचारो का एक और उदाहरण लीजिए । वहा के रहने वालो मे एक रिवाज है कि जब लड़का बालिग हो जाता है तो उसके अगले दात तोड दिए जाते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार मुसलमानो मे सुन्नत कर दी जाती है। ऐसा सहानुभूतिक-टोने के आधार पर ही किया जाता है। समानता के नियम और सम्पर्क के नियम के आधार पर उनका विश्वास रहा है कि व्यक्ति के अपने आप टूटने वाले दूध के दांत बाद में कहीं उसके स्वास्थ्य को खराब नही करते। यहां भी जब बच्चे का दात निकाला जाता है तो कहा जाता है :

Big rat ? little rat ?
Here is my old tooth
Pray give me a new one

इसे दो-तीन बार दुहरा कर दात को आकाश मे पूर्व की ओर फेंक दिया जाता है । भारतवर्ष मे भी इस प्रथा का प्रचलन है ।

उपरोक्त वर्णित जादू के अतिरिक्त आदिम-मानव के विचारों में एक प्रकार का (जनता का जादू) 'सामूहिक-जादू' मिलता है । इसका प्रयोग साधारण-जनता के फायदे के लिए होता है । इस प्रकार का जादू जब जनता के फायदे के लिए सामाजिक-व्यवहार में प्रयुक्त हो जाता है तब जादूगर की महत्ता व्यक्तिगत न रह कर सामाजिक बन जाती है । भारतवर्ष मे भोपा, शिवजी, भैरू, मावड़ियों आदि की सत्ता इसी के कारण है । इस तरह बाद में वह समय जल्दी

आ जाता है जब सामाजिक-पर्वों का महत्व इन्हीं चुने हुए व्यक्तियों के हाथ में आ जाता है। समाज का यह विशिष्ट वर्ग जादूगरीय-वर्ग हो जाता है, उसी तरह जिस तरह मानव-समाज में बाद की अवस्थाओं में पुरोहित-वर्ग। सामाजिक-सत्ता इन जादूखोरों के हाथ में आ जाती है। जांगल अवस्था में रह रहा मानव-समाज इस जादूगर-वर्ग से निर्धारित रहा है और उस समय के उत्पादन के साधन भी इन्हीं के हाथ की कठपुतली रहे हैं। इस तरह हम देखते है कि कुछ अंशों में जादू ने मानव को संकीर्ण और प्राचीन रूढ़ परम्पराओं से छुटकारा दिलाया है। लेकिन बाद में यही जादू जादू-यन्त्र के भंवर-जाल में फंस गया और भूत प्रेत की धारणाओं को प्रसरित करने लगा। ऐसा आप्त-धर्म (revealed) के प्रभाव के कारण हुआ।

सुतरां जादू के सम्बन्ध की मूल धारणाओं का वर्णन करने के बाद यह अप्रासंगिक न होगा यदि जादू और धर्म के सम्बन्ध को भी दर्शाया जाय।

• जादू के सम्बन्ध में जिन उपरोक्त स्थापनाओं को प्रतिपादित किया गया है, वे विज्ञान की इस मूल धारणाओं के समरूप है कि प्रकृति में नियम-बद्धता और अन्तर्निहित एकात्मकता है।

जादू का हेत्वाभास इस बात में नहीं है कि वहां नियम-बद्धता को तूल दिया गया है, बल्कि उसका हेत्वाभास इसमें है कि वहां प्रकृति की नियम-बद्धता को अनुचित रूप से समझा गया है। अनुकरणात्मक नियम और सहानुभूतिक-नियम अपने में बहुत ही आवश्यक चीजें हैं। इन नियमों को यदि तर्क-संगत रूप में लागू

किया जाय तो जादू विज्ञान बना रहता है । यदि उसे अतर्क-संगत या अनुचित रूप से लागू किया जाय तो वह निरा जादू बना रहता है। इसलिए यदि सब प्रकार के जादू के लिए यह कहा जाय कि वह अनुचित और असगत तार्किकता की उपज है तो ऐसा कहना सही होगा । आरम्भ मे ही मनुष्य की चाह रही है कि वह प्राकृतिक-घटनाओं या प्रकृति के प्रतीयमान विश्व की अन्तर्निहित तार्किकता को खोज निकाले ताकि वह प्रकृति का उपभोग कर सके । अपनी इस खोज के दौरान में मनुष्य ने जहा एक ओर मनोमय (rational) नियमों का पता लगाया उसे वहा प्रयोजनात्मक अनुचित प्रतिज्ञाओं को भी स्थापित किया है । जादू एक ऐसी ही अनुचित और प्रयोजनात्मक स्थापना थी । ये धारणाएं आप्त-धर्म (revealed religion) की स्थापनाओं से लाखों गुना अच्छी थी ।

जादू मे नियम-बद्धता की जो बात समानता के नियम और सम्पर्क के नियम के रूप में की गयी है, उसे आप्त-धर्म मे उनके स्थान पर पारलौकिक-सत्ता को मान कर समाप्त कर दिया गया है। प्रकृति की यह धारणा नियम-बद्ध और एकात्मकता की धारणा न हो कर रहस्यमय और अलभ्रलूल धारणा है । आदिम-समाज मे जादू का स्थान काल-गणना की दृष्टि से आप्त-धर्म से पहले का है ।

* इसी तरह या और किसी तरह विचारकों ने जादू से धर्म की ओर कदम उठाया होगा । लेकिन यह परिवर्तन गुणात्मक नहीं था, संभवत वह बहुत शनैः शनैः हुआ होगा और परिपक्व होने में कई युग गुजरे होंगे । प्रकृति की तुलना में मनुष्य है उसका ज्ञान

आ जाता है जब सामाजिक-पर्वों का महत्व इन्ही चुने हुए व्यक्तियो के हाथ में आ जाता है। समाज का यह विशिष्ट वर्ग जादूगरीय-वर्ग हो जाता है, उसी तरह जिस तरह मानव-समाज में बाद की अवस्थाओं मे पुरोहित-वर्ग। सामाजिक सत्ता इन जादूखोरों के हाथ मे आ जाती है। जागल अवस्था में रह रहा मानव-समाज इस जादूगर-वर्ग से निर्धारित रहा है और उस समय के उत्पादन के साधन भी इन्हीं के हाथ की कठपुतली रहे हैं। इस तरह हम देखते है कि कुछ अंशों मे जादू ने मानव को सकीर्ण और प्राचीन रूढ परम्पराओं से छुटकारा दिलाया है। लेकिन बाद मे यही जादू जादू-यन्त्र के भवर-जाल मे फंस गया और भूत प्रेत की धारणाओं को प्रसरित करने लगा। ऐसा आप्त-धर्म (revealed) के प्रभाव के कारण हुआ।

सुतरा जादू के सम्बन्ध की मूल धारणाओं का वर्णन करने के बाद यह अप्रासगिक न होगा यदि जादू और धर्म के सम्बन्ध को भी दर्शाया जाय।

जादू के सम्बन्ध मे जिन उपरोक्त स्थापनाओं को प्रतिपादित किया गया है, वे विज्ञान की इस मूल धारणाओं के समरूप है कि प्रकृति मे नियम-बद्धता और अन्तर्निहित एकात्मकता है।

जादू का हेत्वाभास इस बात में नहीं है कि वहा नियम-बद्धता को तूल दिया गया है, बल्कि उसका हेत्वाभास इसमे है कि वहा प्रकृति की नियम-बद्धता को अनुचित रूप से समझा गया है। अनुकरणात्मक नियम और सहानुभूतिक-नियम अपने में बहुत ही आवश्यक चीजें हैं। इन नियमों को यदि तर्क-संगत रूप मे लागू

किया जाय तो जादू विज्ञान बना रहता है। यदि उसे अतर्क-संगत या अनुचित रूप से लागू किया जाय तो वह निरा जादू बना रहता है। इसलिए यदि सब प्रकार के जादू के लिए यह कहा जाय कि वह अनुचित और असंगत तार्किकता की उपज है तो ऐसा कहना सही होगा। आरम्भ से ही मनुष्य की चाह रही है कि वह प्राकृतिक-घटनाओं या प्रकृति के प्रतीयमान विश्व की अन्तर्निहित तार्किकता को खोज निकाले ताकि वह प्रकृति का उपभोग कर सके। अपनी इस खोज के दौरान में मनुष्य ने जहा एक ओर मनोमय (rational) नियमों का पता लगाया उसे वहा प्रयोजनात्मक अनुचित प्रतिज्ञाओं को भी स्थापित किया है। जादू एक ऐसी ही अनुचित और प्रयोजनात्मक स्थापना थी। ये धारणाएं आप्त-धर्म (revealed religion) की स्थापनाओं से लाखो गुना अच्छी थी।

जादू में नियम-बद्धता की जो बात समानता के नियम और सम्पर्क के नियम के रूप में की गयी है, उसे आप्त-धर्म मे उनके स्थान पर पारलौकिक-सत्ता को मान कर समाप्त कर दिया गया है। प्रकृति की यह धारणा नियम-बद्ध और एकात्मकता की धारणा न हो कर रहस्यमय और अलभ्य-मूल धारणा है। आदिम-समाज मे जादू का स्थान काल-गणना की दृष्टि से आप्त-धर्म से पहले का है।

* इसी तरह या और किसी तरह विचारकों ने जादू से धर्म की ओर कदम उठाया होगा। लेकिन यह परिवर्तन गुणात्मक नहीं था, संभवत वह बहुत शनैः शनैः हुआ होगा और परिपक्व होने में कई युग गुजरे होंगे। प्रकृति की तुलना में मनुष्य है उसका ज्ञान

होना उसके लिए नैसर्गिक था। उसकी आर्थिक स्थिति से कैसे उसे एक दम विलग कर दिया जाता। अपनी भव्य स्थिति से वह धीरे-धीरे हटा होगा धीरे-धीरे उसने उस धरती को छोड़ा होगा जिसे वह अब तक अपनी समझे बैठा था। अब आंधी, वर्षा, धूप-छाह, बिजली की कौंध, जिसे वह अलग की चीज मानता था प्रकृति की हर चीज उसकी पकड़ से निकलती गयी। जो कभी उसके लिए बाग था वह अब उसके लिए बन्दी की एक कोठरी बन गयी और धीरे-धीरे अपनी अक्षुण्णता का उसको भान हुआ होगा। अतः मनुष्य से बढ़कर परा-प्रकृति को मान लेने मे धर्म का आरम्भ होता है और बाद में मनुष्य का परा-प्रकृति में विश्वास और भी गहरा होता जाता है। वह उस परा-प्रकृति की भावना के सम्मुख झुकता जाता है। धर्म की यह गहरी भावना, सब चीजों में परा-प्रकृति के भाव को देखना ऐसा केवल वे लोग ही कर सकते हैं जो विश्व की व्यापकता को समझने की क्षमता रखते हैं और मनुष्य की नगण्यता का जिनको ज्ञान होता है।

---

* In this, or some such way as this, the deeper minds may be conceived to have made the great transition from magic to religion But even in them the change can hardly ever have been sudden, probably it proceeded [illegible], and less perfect accomplishment For [illegible] man's powerlessness to influence the [illegible] on a grand scale must have been gradual, [illegible] been shorn of th

हमने ऊपर देखा कि धर्म और जादू दो भिन्न चीजें हैं जो आदिम-मानव के विचारों की गत्यात्मकता को प्रकट करते हैं। हमने यही देखा कि जादू प्राचीन-समाज का विज्ञान है लेकिन धर्म

---

whole of his fancied dominion at a blow Step by step he must have been driven back from his proud position, foot by foot he must have yielded, with a sigh, the ground which he had viewed as his own Now it would be the wind, now the rain, now the sun-shine, now the thunder, that he confessed himself unable to wield at will, and as a province after province of nature thus fell from his grasp, till what once had seemed a Kingdom threatened to shrink into a prison, man must have been more and more profoundly impressed with a sense of his own helplessness and the might of the invisible beings by whom he believed himself to be sorrounded Thus religion, beginning as a slight and partial acknowledgement of powers superior to man, tends with the growth of knowledge to deepen into a confession of man's entire and absolute dependence on the divine, his old free bearing is exchange for an attitude of lowest prosration before the mysterious powers of the unseen, and his highest virtue is to submit his will to theirs, In la sua volontade e nostra pace .. ..

नहीं। हमने यह भी देखा कि विचारों के दो साधारण नियम समानता और सम्पर्क के जादू-टोनों और आत्मावाद का निर्माण करते हैं ठीक उसी तरह जिस तरह आत्मावाद उद्भिद-भाव को केन्द्र विन्दु वनाकर कवीलों का निर्माण करते हैं। कुल-गोत्र की महत्ता किस तरह जादू के कारण सामाजिक रूप ले लेती है यह भी हमने देखा।

इस तरह यह वात निसंकोच तौर पर कही जा सकती है कि आत्मावाद (animism) प्राचीन समाज की भावधारा है। जहा प्राचीन समाज इस अभिप्रेत को सही लीकों पर चला सका है वहा वह सर्वेश्वरवाद (Pantheism) की ओर अग्रसर हुआ है। ऐसा केवल (विज्ञान की पृष्ठभूमि में) सभ्य समाज ही कर सका है। आदिम-समाज में वहुधा वहु-देव वाद (Polytheism) मिलता है। आदिम-समाज में मनुष्य में जो अभिप्रेत और स्व-प्रक्षेपण की भावनाएं आरम्भिक अवस्था में थीं उन्हीं ने आगे चलकर वहुदेव वाद का रुप लिया जो और आगे चलकर सर्वेश्वरवाद वन गया।

दो प्राचीन सभ्यताओं में—मिश्र और वेवीलीन में—वहुदेव वाद का प्रचलन मिलता है उस वहुदेव वाद पर आत्मावाद और मनुष्य के अभिप्रेत का भाव स्पष्ट झलकता है।

"मिश्र के देवता, जैसा की उनका ऐतिहासिक रूप है, मिश्र की सामाजिक और प्राकृतिक परिस्थितियों की ही झलक हैं। उन परिस्थितियों की जो उनके जीवन के नियामक थे—जैसे व्योम,

पृथ्वी, तारे, सूर्य और नील नदी आदि ...." *

अन्तिम-विश्लेषण में कहना होगा कि विचारों के नियमों को जो बात आदिम-जादू-टोना पर लागू होती है वही बात लोक-साहित्य पर भी लागू होती है। जब आदिम मानव के सब के सब विचार, सब की सब धारणाएं और समूचा प्रक्षेपण और व्यक्ति का अभिप्रेत आदिम-मानव की भाव-भूमि पर छाए रहते हैं तो लोक-साहित्य की गत्यात्मकता कैसी होगी उसका अनुमान लगाया जा सकता है। आदिम-मानव नियमबद्ध भौतिक-प्रकृति की गोद में पनपता हुआ प्रकृति के जिन तत्वों के सम्पर्क में आवे वह उन तत्वों का उपभोग करता हुआ प्रकृति के विभिन्न उपादानों को प्राणवान बना उन्हें नर नारायण का रूप देकर परिकल्पित करे, इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यही वह मार्ग है जो लोकसाहित्य के लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का काम करता है। और यही तो लोक-साहित्य का मूल-मानस है। लोक-साहित्य पर नृतत्वों का जो प्रभाव पड़ता है वह समयान्तर में सामाजिक विकास के साथ अपने में नई मानसिक स्थितियों को समाविष्ट कर लेता है। इसलिए आधुनिक लोक-साहित्य

---

* The greater gods of the Egyptian pantheon are, as they stand in historical period, impersonable of the greater forces that surrounded the Egyptian and controlled his life - the sky, the earth, the stars, the sun, the Nile . .

(The Dawn of Civilization—Muspers)

में आदिम-मानव के विचार और विश्वास के साथ अन्य आधु
ऐतिहासिक तत्व अनुप्राणित मिलते हैं। लोक-साहित्य में जब
प्याज के छिलकों की तरह कई मानसिक धरातल मिलते हैं,
कहना अनुचित न होगा। राजस्थान में कतिपय लोक-कथाओं
यह वर्णन आया है कि एक व्यक्ति के मूत्र से उत्पन्न चन्दला
खाने से एक कुमारी राजकुमारी गर्भवती हो जाती है। इस प्र
का विश्वास केवल राजस्थान तक ही सीमित नहीं है वरन् अन्य
में भी पाया जाता है। और यह विश्वास मानव समाज में ब
पुराना है। वास्तविक कारणों के ज्ञान के अभाव में आदिम-म
ने यह परिकल्पना की होगी, ऐसा अन्दाज लगाया जा सकता
अत. यह स्थापना एक दम तर्कसंगत जचती है कि लोक-साहित्य
किसी आध्यात्मिक-शक्ति के प्रभाव को ढूढना तर्क-सगत नहीं
हर युग और हर काल में लोक-साहित्य पर मानवीय-मान
सामयिक सामाजिक और प्राकृतिक वातावरणों का निरन्तर प्र
पड़ता रहा है। इसी गत्यात्मकता के कारण लोक-साहित्य
अवयवी-भाव बना रहता है।



*

अध्याय दस

*

लोक-साहित्य, धर्म और लोक-सार

सभ्य-समाज को छोड़ अब तक उपलब्ध समूचे प्राचीन लोक-साहित्य का सम्बन्ध धर्म से रहा है। इस धर्म का रूप क्या रहा है इसको बिना समझे अधिकांश लेखक यह मान कर चलने लगे हैं कि लोक-साहित्य की अभिव्यक्ति धार्मिकता को लेकर होती है। इसलिए आवश्यक लगता है कि धार्मिकता और लोक-साहित्य के कार्य-कारण सम्बन्ध वाली स्थापना को विज्ञान के अनुशीलन की कसौटी पर परखा जाय।

इस तरह लोक-साहित्य और धर्म के परस्पर सम्बन्ध को समझाने के लिए आवश्यक है कि धर्म को उसके ऐतिहासिक रूप में समझा जाय।

इसके पूर्व कि धर्म का ऐतिहासिक विश्लेषण किया जाय यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ अड़चनों को दूर कर लिया जाय। वह अड़चनें हैं दुराग्रह की। दुराग्रह का अर्थ नकारात्मक नहीं है, यह तो एक वर्णनात्मक शब्द है। जब किसी स्थापना के लिए यह कहा जाता है कि वह दुराग्रह-पूर्ण है तो उसका प्रयोजन

लगते हैं। चाहे विचारों के इतिहास को लिया जाय या भाषा-शास्त्र के इतिहास को लिया जाय धर्म की उपरोक्त परिभाषा को सर्व कालिकता का रूप नहीं दिया जा सका। 'धृ धारियति इति धर्मः' कम से कम उस धर्म की परिभाषा नहीं है जो ईश्वर को कर्त्ता मानता हो। इस धारणा को तो विना ईश्वर, विना उत्पादन कारण और विना आदि कर्त्ता के भी लिया जा सकता है। अतः धर्म की ऐतिहासिकता को स्पष्ट समझा जाय। प्राकृत-धर्म और आप्त धर्म के भेद को सर्वांगीण रूप से समझा जाय। धर्म का सार आधुनिक अर्थों वैसे देखा जाय तो पारलौकिक सत्ता को मान लेना है। यदि वात ऐसी नहीं है तो धर्म की परिभापा वाली वात उठाना ही तर्क-हीन है।

साधारणतया धर्म का अर्थ उस सैद्धान्तिक पद्धति से लगाया जाता है, जिसमे 'आध्यात्मिक-सत्ता' को और 'पार-लौकिक सत्ता' को प्रतिपादित किया गया हो। इस अर्थ में लोक-साहित्य का सम्बन्ध धर्म से किसी भी रूप में चाहे वह कार्य कारण रूप ही क्यों न हो, नहीं जोड़ा जा सकता। लोक-साहित्य का सृजन प्राचीन काल में धर्म-निरपेक्ष अर्थों मे हुआ है और आज भी उन्हीं अर्थों में हो रहा है। लोक-साहित्य ही क्यों स्वय संस्कृति भी, जो लोक-साहित्य की आधार-शिला है, का सृजन भी धर्म के कारण नहीं हुआ है। संस्कृति और लोक साहित्य की वात निरपेक्षता को लेकर करना कुछ लोगों को अखर सकती है। सच वात तो यह है कि धर्म का विवेचन इस को स्थापित करने की स्वीकृति नहीं देता कि धर्म ने किन्हीं अर्थों में इन

दो रूपों को प्रस्थापित किया है।

कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो 'धृ धारियति इति धर्मः' वाली बात नहीं उठाते। उनकी मान्यता है कि धर्म मनुष्य की भावात्मक लीकों, मानसिक प्रयासों और नैतिक-व्यवहारों का दूसरा नाम है। यदि ऐसी बात है तो संस्कृति और धर्म में भेद नहीं किया जा सकेगा। लेकिन संस्कृति और धर्म एक नहीं हैं।

धार्मिक लोगों का कहना है कि व्यक्ति धर्म के कारण ही अपने में नैतिक गुणों को संजो पाता है। और नैतिक गुणों के कारण ही भले बुरे का भेद करने की क्षमता पा लेता है। इस स्थापना के अनुसार धर्म और संस्कृति में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हैं। इस तरह इन लोगों के अनुसार धर्म के कारण ही समाज और व्यक्ति में लोक-साहित्य की प्रेरणा जागृत होती है। लेकिन यह स्थापना भी सही नहीं है। व्यक्ति भले बुरे का भेद अपने वेदना-जनित अनुभव के आधार पर बने विवेक से करता है। उसका धर्म से कोई लेना देना नहीं है। मनुष्य मनोमय इसलिए है कि उसमें मनोमयता की योग्यता है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। विवेक का आधार अनुभव है।

साथ ही धर्म के विगत इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि धर्म के अन्तर्गत व्यक्ति ने कई मान्यताओं को प्रतिपादित किया है। ऐसा मनुष्य ने सत्य की खोज और स्वतन्त्रता की चाह से प्रेरित होकर किया है। सत्य की खोज और स्वतन्त्रता की चाह मनुष्य की मूल प्रवृत्तियां हैं। धर्म मनुष्य की आरम्भिक खोज का

प्रकार से लोक-साहित्य को धर्म की मान्यताओं के आधार पर समझाना ही है। जब धर्म और सस्कृति के सम्बन्ध की बात ही अनुचित है तो धर्म और लोक-साहित्य के सम्बन्ध की बात कहना भी अनुचित है।

धर्म को केवल यदि उसकी अपनी मान्यताओं के आधार पर कि 'सब धर्मों मे ईश्वर एक कर्त्ता है'—पर रखा जाय तो कहना होगा केवल एक इतिहास धर्म, धारणा है। मानव-विचारो के इतिहास मे एक संक्रातिकालीन अस्तित्व है। लेकिन आज भी उसका प्रभाव लोगो के मानस से उठ नही रहा है। मानव-समाज में आज एक भी ऐसी जाति नहीं है, रूस और चीन जैसे साम्यवादी देशों मे भी—जिसने वह स्तर प्राप्त कर लिया हो जो धर्म अपने जीवन का अभिन्न अ ग नही समझती हो। यह मानव जाति के लिए दुर्भाग्य की बात है। यह इसी धार्मिकता के प्रभाव के कारण है कि लोक-साहित्य के मानस में लोक-सार की सही मानवीय प्रतिष्ठा नहीं आ पा रही है। लोक-साहित्य मे आए कुण्ठित लोक-सार को दूर करने के लिए आवश्यक है कि धर्म-निरपेक्ष रूप मे सस्कृति का अबाध स्वतन्त्रता के साथ निर्माण हो। धर्म-निर्पेक्ष अर्थों में ही मानवीय संस्कृति और स्वस्थ लोक-साहित्य की बात की जा सकती है।

धर्म के प्रभाव में जो तथा-कथित लोक-साहित्य रचा गया है, उसका अध्ययन उन्ही अर्थों मे किया जाता है जिन अर्थों मे धार्मिक-रुढ विश्वासों का किया जाता है।

धर्म को सही अर्थों मे समझने के लिए धर्म के विगत इतिहास को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है। एक तो प्राकृत-

धर्म (Natural religion) और दूसरा आप्त-धर्म (Revealed religion) । सभ्य समाज मे बनने के पहले प्राचीन संस्कृति और लोक-साहित्य परिपूर्ण मात्रा मे प्राकृत-धर्म से प्रभावित रहे हैं। उस युग में कतिपय व्यक्ति इसके अपवाद हो सकते हैं । लेकिन उस युग में प्राकृत-धर्म ने संस्कृति और लोक-साहित्य के सीमा-विन्दुओं को निर्धारित किया है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सच बात तो यह है कि प्राकृत-धर्म को धर्म की संज्ञा से अभिहित करना एक बड़ी अनुचित बात है और एक बहुत बड़ा दुराग्रह है ।

धर्म का अर्थ एक आध्यात्मिक-सत्ता और पार-लौकिक सत्ता में विश्वास से है तो प्राकृत-धर्म धर्म नहीं है । यह सही है कि प्राकृत-धर्म के (प्राचीन-समाज मे) अपने देवी देवता होते हैं, उसकी अपनी आत्मा की कल्पना होती है, लेकिन प्राकृत-धर्म में की गयी देवी, देवताओं और आत्मा की धारणा आप्त-धर्म में व्यवहृत की गई ईश्वर और आत्मा की धारणा से भिन्न है । प्राकृत-धर्म मे इन मान्यताओं का प्रतिपादन मनुष्य ने अपनी प्रतिच्छाया के रूप में किया है और वहा वस्तुओं और चीजों का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया है । वहा मनुष्य, जीव, चराचर, आत्मा, देवी और देवता आदि की कल्पना मनुष्य की स्थिति से भिन्न नहीं कल्पित की गई है ।
मनुष्य की उद्भिद्-भाव की कल्पना-शक्ति के कारण ही प्राकृत-धर्म के माध्यम से कला और कविता प्रस्फुटित हुई है । यहा लोक ने आधुनिक कलाकारों की तरह प्रकृति का अनुकरण नहीं किया है जैसा कला के सृजन में कलाकार कला का सहारा लेता है । कहना होगा

और वैज्ञानिक ही कलाकार थे। उनके ज्ञान का दायरा सीमित था। वे प्राकृतिक-घटनाओं को और प्रतीयमान-विश्व को तर्क-संगत रूप से नहीं समझ पा रहे थे। ज्ञान का विकास इतना नहीं हो पाया था कि वे प्राकृतिक घटनाओं को समझ पाते। ज्ञान की अनुपस्थिति में उन्होंने कल्पना का सहारा लेना आरम्भ कर दिया। वह कल्पना मनुष्य को आधार बनाकर ही की जा सकती थी। स्वयं आत्मा की जो कल्पना की गयी है उसमें मानवोचित गुण प्रदर्शित किए मिलते हैं। यही कारण है कि किसी भी देवी देवता की कल्पना चश्मा लगाए देवी-देवता के रूप में नहीं की गयी है या की जा सकी है। उस समय चश्मे बन नहीं पाए थे। आदिम-मानव ने प्रकृति पर काबू पाने के जोश में देवी-देवताओं को सत्ता से विभूषित करना आरम्भ कर दिया था। हर घटना के लिए देवी-देवता ही सब कुछ थे। इस पृष्ठभूमि में साधारणतया समझा जा सकता है कि प्राचीन-धर्म वाली संस्कृति किस प्रकार के सांस्कृतिक-ढाँचे को और किस प्रकार के लोक-साहित्य को जन्म दे सकेगी।

प्राचीन धर्म की आत्मा के सिद्धान्त पर बने एक सांस्कृतिक-ढाँचे का यहां एक उदाहरण दिया जा सकता है, जो आदिम-समाज के लोगों के लिए एक तर्क-संगत चीज था (वैसे हमने आदिम-विचारों के इतिहास वाले अध्ययन में इस सिद्धान्त पर विस्तृत-रूप से प्रकाश डाला है।)

प्राचीन-धर्म की आत्मा के संबंध में यह एक स्थापना थी कि वह मनुष्य के शरीर को छोड़ सकती है, और उससे मनुष्य

मरता नहीं है। आत्मा का मनुष्य के शरीर को छोड़ने का यह अभिप्राय हुआ कि विचरती आत्मा के साथ साधारण भौतिक चीजों की तरह दुर्घटना भी हो सकती है। कम से कम उसकी तार्किक सम्भाविकता बनी रहती है। अत. आत्मा की इस स्थिति का एक यह निगमन भी निकाला जा सकता है कि उसे बाधा जा सकता है, हथियारों के बल पर जहां चाहे ले जाया जा सकता है और डराया धमकाया जा सकता है। और आदिम मानव द्वारा वास्तव में ऐसा निगमन निकाला गया था।

इस आधार पर आस्ट्रेलिया के लोगों में यह एक रिवाज बन गया कि युद्ध में जब उनके व्यक्ति मारे जाते तब उनकी मान्यता रही कि मरे हुए व्यक्तियों की आत्मा डर के कारण वापस उनका घर की ओर पीछा करती है। अत' आस्ट्रेलिया वाले मरण-सत्कार मनाते समय हवा को मारते हैं या मारने का स्वांग करते हैं—अपनी वेदनाओं की अभिव्यक्ति के बतौर नहीं—बल्कि घबराई हुई आत्मा को वहां से भगा देने के लिए। आस्ट्रेलिया वाले ही क्यों पराग्वे वाले भी आत्मा को भगाने के लिए ऐसा ही हवा से लड़ने का स्वांग करते हैं। स्पेन वाले हर साल पियू जिले में कृपक बुरी आत्माओं को भगाने के लिए ऐसा करते हैं। इस अवसर के—आत्मा को हवा से लड़कर भगाने के अवसर के—कुछ गीत भी मिलते हैं।

अत कहना होगा कि प्राचीन संस्कृति के आधार पर ही सांस्कृतिक-तत्वों का सृजन हुआ है और लोक-साहित्य का निर्माण हुआ है।

इस अवस्था में "मनुष्य की मनोवस्था ने भी उसकी भाषा के स्वभाव का निर्णय किया है और उस अवस्था में, जैसा कि बच्चों मे पाया जाता है, उन भावनाओं को कार्य करते प्रकट करते हैं जो समस्त बाह्य वस्तुओं को एक ऐसे जीवन से अभिमंडित कर देती हैं, जो उसके अपने जीवन से भिन्न नहीं होती। अपने दृष्टिपात मे आने वाले विविध पदार्थों के मूल स्वभाव अथवा गुणों के संबंध में उसे कोई निश्चित ज्ञान नही था। किन्तु वह जीवन संपन्न था और इसलिए शेष वस्तुओं मे भी जीवन होना चाहिए। इसे वह स्वयं अपने सम्बन्ध मे आत्म चेतना तथा व्यक्तित्व मे भेद नहीं जानता था। उसे अपने तथा अन्य किसी के जीवन की अवस्थाओं के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान नहीं था और इसलिए पृथ्वी तथा आकाश मे सभी वस्तुएं अस्तित्व मात्र के एक ही अस्पष्ट भाव से अनिविष्ट मात्र थीं। सूर्य, चन्द्र, तारा, वह भूमि जिस पर वह चलता था, बादल, तूफान, तथा बिजलियां सभी सजीव व्यक्ति थे। उनके शब्दों से ही अनिवार्यतः यह विश्वास प्रकट होगा। उसकी भाषा म ऐसा कोई मुहावरा नहीं हो सकता था जिसमे सजीव सम्बन्धी विशेष का अभाव हो, साथ ही उसमें जीवन के स्वरूप की विभिन्नता अचूक सहज ज्ञान से प्रकट होगी।—संसार के प्रत्येक पहलू के लिए वह किसी न किसी जीवन पर मुहावरे का प्रयोग करेगा। परन्तु वह उनके शब्दों की अपेक्षा कम भिन्न होंगे। एक ही पदार्थ भिन्न समय पर अथवा भिन्न भिन्न अवस्थाओं मे अत्यन्त विषय तथा असंचारी भाव जाग्रत करेगा।——सूर्य से घोर प्रेरक तथा प्रोत्साहक, दोनों ही प्रकार के भाव उदय होने, विजय

तथा पराभव सम्बन्ध, परिश्रम तथा असामयिक मृत्यु सम्बन्ध किन्तु वह व्यक्तित्वारोप नहीं होगा, और न ही यह रूप (Form) होगा। यह उसके लिए असंदिग्ध वास्तविकता होगी जिसकी परीक्षा तथा विश्लेषण उसने उतना ही कम किया है जितना कि अपने ऊपर विचार। यह उसका मनोवेग तथा विश्वास होगा, किन्तु किसी भी अर्थ में धर्म नहीं।" (द आर्यन पाईथोलाजी'—कॉक्स)

अतः आदिम-मानव जिज्ञासा वृत्ति को लेकर कल्पनाएं करता सा प्रतीत होता है। लेकिन आदिम-अवस्था में विचार अभी सर्वेश्वरवाद (pantheism) के स्तर को नहीं प्राप्त कर पाए थे। इसकी झलक हमें उस समय के लोक-साहित्य में मिलती है। प्राकृतिक घटनाओं के कार्य-कारणों को नहीं समझ सकने के कारण उन्होंने रूप के आधार पर देवी-देवताओं की कल्पनाएं की। प्रकृति को जीतने की सुप्त आकांक्षा ने उन्हें देवताओं को ताकतवर रूप देने को बाध्य किया।

भारतवर्ष में संस्कृति, सांस्कृतिक-ढांचे और लोक-साहित्य अब भी धर्म से ओत-प्रोत हैं। जन-साधारण के धार्मिक-जीवन पर प्राचीन-धर्म या प्राकृत-धर्म का प्रभाव आप्त-धर्म की तुलना में अधिक गहरा है। भारतवर्ष में धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राकृत-धर्म के आधार पर सृजित देवी-देवताओं की कल्पना आप्त-धर्म की मान्यताओं के आधार पर नहीं की गई है। भारतवर्ष में संत और महात्मा हुए हैं। लेकिन प्राय संतों को यह कहते हुए नहीं सुना गया है कि आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार केवल उनको हुआ

है और अवतार मनुष्य ही लेते हैं। धर्म प्राकृत धर्म की सीमाओं को पार नहीं कर सकने के कारण धर्म एक सामूहिक रूढ-विश्वास और दुराग्रह का रूप नहीं ले सका। धर्म का रूढ-विश्वास मध्य-युग तक अपनी पक्की नींव नहीं जमा सका, जैसी पक्की नींव इस्लाम-धर्म और ईसाई-धर्मों ने रूढ-विश्वास के रूप में जमा ली थी। इसके उपरान्त समाज के ऊपरी वर्गों मे धर्म का स्थान देव-धर्म-शास्त्र (Theology) ने ले लिया था। साधारण जनता में प्राकृत-धर्म अनेकानेक कल्पातक धारणाओं का रूप ले लेने के सिवाय कभी भी संघटित-धर्म, दृढता और अनुदारता का रूप नहीं ले सका था।

भारतवर्ष में धर्म संघटित रूप—नहीं ले सकने के कारण (जैसा पाश्चात्य देशों में गिरजाघरों के माध्यम से ईसाई-धर्म ने ले लिया था) ही यहा के लोगो में पर्याप्त धार्मिक-स्वतन्त्रता रही। पाश्चात्य देशों की तरह भारत मे धर्म राज्य और समाज पर एकाधिकार कायम नहीं कर सका। इस धार्मिक स्वतन्त्रता का सास्कृतिक महत्व इस बात मे रहा कि उससे जन-साधारण में धार्मिक-जीवन प्राकृत-धर्म की सीमाओं मे जिन्दा रह सकी। इससे लोक-साहित्य का सृजन सास्कृतिक-ढाचो के माध्यम से खूब हुआ और उसका सापेक्ष स्थायित्व आज भी बना हुआ है। वेदों में परिव्याप्त जो प्राकृत-धर्म था उसका आज व्यवहार नहीं किया जा रहा है। इससे आज लोक-साहित्य का मानस कलुषित हो रहा है। आज भारतवर्ष मे सशोधात्मक राष्ट्रवाद के आधार पर वैदिक कर्म-काडों व सस्कारों को आप्त-धर्म का पुट देकर पुर्नस्थापित किए जाने का प्रयास किया जा रहा है।

करने लगा है ।

मध्य-युगीन समाज के विश्रृखलित होने और विभिन्न सास्कृतिक परतों के विघटित होने से ब्राह्मणों का वह स्थान नही रह सका जो उन्हे मध्य-युग मे प्राप्त था । मध्य-युग के अन्तिम चरण मे अज्ञानता के कारण और इस्लाम धर्म के प्रभाव के कारण पुराणों का धर्म विकृत रूप लेकर अलग-अलग घृणित सम्प्रदायो का रूप लेने लगा । साथ ही कबीर जैसे लोक-प्रिय सामाजिक सुधारक भी धर्म की नई व्याख्या लेकर पैदा हुए लेकिन आज गीता के आधार पर नए सम्प्रदाय को प्रस्थापित किया जा रहा है । डा० राधाकृष्णनन्, श्री राजगोपालाचारी, और श्री क. मा. मु शी इस प्रवृति का प्रतिनिधित्व करते हैं । यह प्रयास लोक-सार से कितना दूर हट गया है, अध्ययन का विषय है । कहना नहीं होगा कि गीता का महा-भारत नामक महाकाव्य में जो स्थान था, उससे हटकर गीता को समझा जा रहा है और उसे आधुनिक हिन्दू-धर्म की आधारशिला बनाई जा रही है । गीता का अपने महाकाव्य के मूल-स्थान से हटना इस बात का द्योतक है कि आज का हिन्दू-धर्म लोक-सार से कितना परे हट गया है। इतना होते हुए भी इस हिन्दू-धर्म के खोल के नीचे आज भी प्राकृत-धर्म की मान्यताए साधारण लोगा के दिमाग मे घर किए हैं । सूतरा लोक-साहित्य की गत्यात्मकता का इसी आधार पर समझा जाना चाहिए । और इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आज भारतवर्ष मे लोक-साहित्य के मानस मे एक विशिष्ट कलुपितता घर कर रही है ।

धर्म के इतने विश्लेपण के बाद यह स्पष्ट हो गया होगा

कि लोक-साहित्य, संस्कृति और सास्कृतिक-ढाचे और विभिन्न सास्कृतिक-परतें किस प्रकार के 'धर्म' से प्रभावित रही हैं। वह स्पष्टयता धर्म-निर्पेक्ष रही है और ऐहिक रही है, इसे मानना ही होगा। साथ ही यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि भविष्य में भी समाज के मूल से धर्म—आप्त और प्राकृत दोनों के उठ जाने पर भी लोक-साहित्य और सस्कृति जिन्दा रहेगी। इसमें कोई विवाद की वात दिखाई नहीं देती। समाज का लोक-सार परिष्कृत होकर तब भी जिन्दा रहेगा। इस बात का पता इससे लगता है कि आज प्राचीन-लोक-साहित्य से विद्वत-समाज की आस्था हटती जा रही है। प्राचीन-साहित्य में जो स्व-प्रक्षेपणात्मक (Self-projection) और अभिप्रेत (Anthromorphic) की प्रवृति थी उसे ऊँच समारोहात्मक रूप दिया जा रहा है। ऐसा इसलिए हो रहा है कि आज जन-साधारण का लगाव जमीन से अधिक है, परलोक से कम। फिर भी लोग सस्कृत भाषा को बिना समझे पुराने श्लोकों को रट-रटकर उच्चारित कर रहे हैं, उससे अनुभवों को परिमार्जित नहीं कर पा रहे हैं। दुर्गा-पूजा, होली, दिवाली के सास्कृतिक-ढाचे हमारी इस स्थापना की पुष्टि कर रहे हैं। ये लोक-प्रिय त्योहार हैं न कि धार्मिक-त्योहार। आज इसके साथ अभी भी मनुष्य की प्रतिच्छाया जुड़ी मिलती है और वे व्यक्ति के अभिप्रेत से अनुरंजित हैं। इससे इन त्योहारों मे अध्यात्मिक अंश आंशिक—मात्रा ही में रह गया है। दुर्गा-पूजा में मनुष्य का अभिप्रेत इतना सबल है कि वह दुर्गा-मां की कल्पना में स्पष्ट झलकता है। इसमें कल्पना की गयी है कि

जब देवता-लोग अपनी रक्षा असुरों या राक्षसों से नहीं कर सकते हैं तब वहा मनुष्य-प्रदत्त शक्ति की उनका साथ दे सकने की बात की गई है। उस शक्ति का रूप दुर्गा-मा का रूप दिया गया है। मा-दुर्गा प्रकृति मा की कल्पना के रूप में बुरी नहीं है। यह मनुष्य भावों की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति का एक नमूना है। यह कलात्मक अभिव्यक्ति आप्त-वचनों, अज्ञेय अनुभवों और अनहद-नाद के आधार पर नहीं की गयी है। सही बात तो यह है कि इसके सृजन में हर व्यक्ति ने अपने तौर पर (मानवीय तौर पर) योग दिया है। ऐसे अवसरों पर समारोहात्मक अभिनय इतना व्यापक रहता है कि जो लोक-साहित्य इनमें विभिन्न व्यक्तियों द्वारा जोड़ा जाता है वह अनायास ही इसमे जुड़ता चला जाता है। एक प्रजातान्त्रिक संस्कृति के लिए ऐसी व्यापकता का होना आवश्यक है। मनुष्य का स्व-प्रक्षेपण और उसका अभिप्रेत ही वे दो लड़िया हैं जो प्राचीन-संस्कृति को ऐसी व्यापकता दे सकते हैं। सारा समाज काल्पनिक और लोक-सार के आधार पर बने अभिप्रेतों को लेकर किसी सास्कृतिक-ढाचे मे भाग ले इससे वढ़ कर धर्म-निर्पेक्ष वात क्या हो सकती है।

कालान्तर में भी ज्यों ज्यो ज्ञान का दायरा बढता जायगा और उसका प्रसरण समाज में होता जायगा त्यो-त्यों लोगों की आस्था प्राकृत-धर्म से उठती जायगी और लोक-सार का दायरा व्यापक होता जायगा। तब लोक संस्कृति का रूप दुर्गा-पूजा के रूप में रह कर उसके सार तत्व एक मानवीय संस्थापन के रूप मे जिन्दा रहेंगे, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। इस रूप परिवर्त्तन से नए लोक-साहित्य का सृजन होगा—ऐसे लोक-साहित्य का जिसमे लोक-सार

की प्रतिष्ठा बहुत बारीकी मे बनी रहेगी। मनुष्य अपने चारो ओर चक्कर लगाता रहेगा इसमें सन्देह की आवश्यकता नहीं। ऐसा इसलिए है कि लोक-सार ही वह निर्धारित तत्व है जो सामाजिक और अन्य परिवर्तनों के बावजूद बना रहता है।

★ समाप्त ★